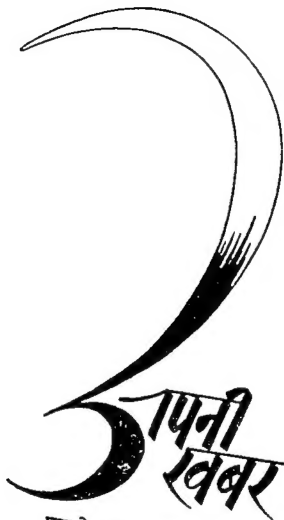
अपनी खबर

राजकमल प्रकाशन



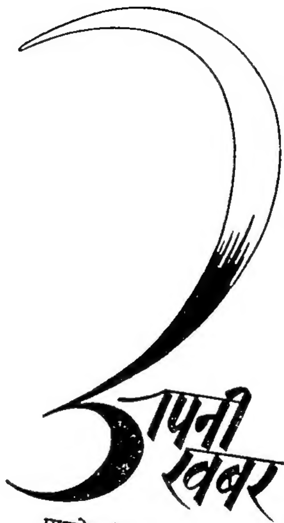


पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

लेखक के अब तक अज्ञात
आरम्भिक २१ वर्ष

राजकमल प्रकाशन



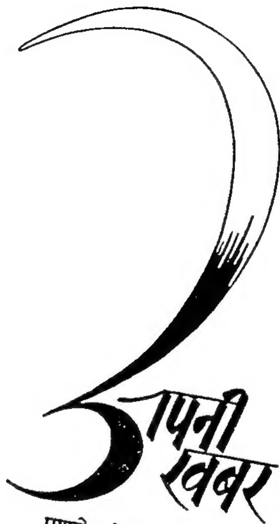


पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

लेखक के अब तक अज्ञात
आरम्भिक २१ वर्ष

राजकमल प्रकाशन





पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

जन्म से अब तक अनान
आरम्भिक २१ वर्ष

मूल्य
४.५० रुपए
•
प्रथम संस्करण १९६०

•
प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली
•
मुद्रक
[illegible] प्रेस [illegible] बाजार दिल्ली

दिवगत श्री महादेवप्रसाद सेठ
को सादर समर्पित

मुद्दत हुई है यार को मेहमाँ किए हुए
जोशे कदह से बज़्म चरागाँ किए हुए
करता हूँ जमा फिर जिगरे लख्त-लख्त को
अर्सा हुआ है दावते मिश्गाँ किए हुए
फिर वज-ए-एहतियात से रुकने लगा है दम
बरसों हुए हैं चाक गरीबाँ किए हुए
फिर पुरसिशे-जराहते-दिल को चला है इश्क
सामाने सद हजार नमकदाँ किए हुए
फिर शौक कर रहा है खरीदार की तलब
अर्जे मताए-अक्लो-दिलो-जाँ किए हुए
इक नौबहारेनाज को ताके हैं फिर निगाह
चेहरा फरोगे-मय से गुलिस्ताँ किए हुए
फिर जी में है कि दर प' किसी के पड़े रहे
सर जेरे-बारे-मिन्नते-दरबाँ किए हुए
जी ढूँढता है फिर वही फुर्सत, कि रात दिन
बैठे रहे तसव्वुरे जानाँ किए हुए
गालिब' हमें न छेड़ कि भर जोशे अश्क से
बैठे हैं हम तहय्य-ए-तूफाँ किए हुए

—[illegible]





मुद्दत हुई है यार को मेहमाँ किए हुए
जोशे कदह से बज्म चरागाँ किए हुए
करता हूँ जमा फिर जिगरे लख्त-लख्त को
अर्सा हुआ है दावते मिश्रगाँ किए हुए
फिर वज-ए-एहतियात से रुकने लगा है दम
बरसों हुए हैं चाक गरीबाँ किए हुए
फिर पुरसिशे-जराहते-दिल को चला है इश्क
सामाने सद हजार नमकदाँ किए हुए
फिर शौक कर रहा है खरीदार की तलब
अर्जे मता-ए-अक्लो-दिलो-जाँ किए हुए
इक नौबहारेनाज को ताके है फिर निगाह
चेहरा फरोगे-मय से गुलिस्ताँ किए हुए
फिर जी में है कि दर प' किसी के पड़े रहे
सर जेरे-बारे-मिन्नते-दरबाँ किए हुए
जी ढूँढता है फिर वही फुर्सत कि रात दिन
बैठे रहे तसव्वुरे जानाँ किए हुए
गालिब' हमें न छेड़ कि फिर जोशे अश्क से
बैठे हैं हम तहय्य-ए-तूफाँ किए हुए

— पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

दिग्दर्शन

"मैंने क्या-क्या नही किया ? किस किस दर की ठोकरें नही खाई ? किस किसके आगे मस्तक नही भुकाया ? मेरे राम ! आपको न पहचानने के सबब 'जन जनमि-जनमि जग, दुख दसहू दिसि पायो ।'

"आशा के जाल मे फँस, 'योर मोस्ट ओबीडिएण्ट सर्वेंट' बन, नीचो को मैंने परम प्रसन्न प्रेमपूर्वक प्रभु ! प्रभु !' पुकारा । मैंने द्वार-द्वार बार-बार मुह फलाया दीनता सुनाने, लेकिन किसी ने उसमें एक मुट्ठी धूल तक नही डाली !

'भोजन और कपडे के लिए पागल बना मैं यत्र-तत्र-सर्वत्र भक मारता फिरा, प्राणो से भी अधिक प्रिय आत्म-सम्मान त्यागकर खलो के सामने मैंने खाली पेट खोल-खोल-कर दिखलाया !

"सच कहता हूँ कौनसा ऐसा नीच नाच होगा जो लघु लोभ ने मुझ बेशरम को न नचाया होगा ! किन्तु आह ! लालच से ललचाने के सिवाय नाथ ! हाथ कछु नहिं लग्यो !'

तुलसीदास (विनय)

प्रवेश

कुछ ही महीने पहले बिहार के विदित आचार्य श्री शिवपूजन सहायजी (पद्मभूषण) आचार्य नलिन विलोचनजी शर्मा तथा श्री जैनेन्द्र कुमारजी मेरे यहाँ कृपया पधारे थे। साथ में बिहार के दो-तीन तरुण और भी थे। बातों-ही-बातों में श्री शिवपूजन सहाय ने मुझसे कहा— उग्र, अब तुम अपने संस्मरण लिख डालो।

मैंने कहा— लिख तो डालूँ लेकिन जीवित महात्माओं की बिरादरी—अंध भक्त बिरादरी—का बड़ा भय है। बहुतों के बारे में सत्य प्रकट हो जाए तो उनके यश और जीवन का चिराग़ ही गुल-गुल करने लगे। कुछ तो मरने मारने पर भी आमादा हो सकते हैं। उदाहरणतः एक जगह वाल्मीकीय रामायण सुन्दर काण्ड की कथा में मेरे एक एक मित्र भी उपस्थित थे जो हनुमानजी के अंध भक्त थे। कथा में मन्दोदरी का गाना हुआ दशरथ [illegible] ने समझा जाता जाता है [illegible] बहु [illegible] की तरह [illegible]

उग्र

नि[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]

"लेकिन कथा वाचक के मुह से यह श्रय श्रौर हनुमानजी के लिए वदर श्रौर पूछ का प्रयोग सुनते ही वह श्रध भक्तजी भटक पड़े। यहा तक कि उस दिन की कथा ही हजरत ने भग कर डाली।

'इसी तरह यदि मैं लिखू कि दिग्गजाकार महाकवि निराला' पर कलकत्ते के एक मूषकाकार प्रकाशक ने सन् १६२८ ई० म बडा बाजार की अपनी दूकान में काठ की तलवार से कई प्रहार किये थ ऐसे कि निराला' भी हतप्रभ होकर प्राय रोकर रह गए थ, तो सत्य की तह तक गय वगर ही 'निराला' भक्त सनसना भनभना उठेंगे।"

'लेकिन घटना तो सही है" आचाय शिवपूजन न कहा।

इसके वाद उपस्थित मित्रा को मने दो सस्मरण सुनाये—(१) 'निराला' जी पर एक प्रकाशक द्वारा आक्रमण, फिर उस प्रकाशक पर 'निराला' जी का प्रहार, बीच में उग्र' का उत्त-जक-पाट और (२) 'निराला' के पुत्र के व्याह में, लखनऊ म, यतवढाव में, भरी मजलिस में किसी वहकते प्रकाशक पर एक दहकते समालोचक का आक्रमण और उसके वाद का भूतनाथ की बारात वाला कोलाहल। साथ ही इस दुघटना के विवरण में वहा उपस्थित न होन पर भी 'उग्र' की बदनामी।

उक्त दोना उदाहरण तो निराला विषयक हैं। मेरे खतर-नाकग्राम जीवन में ऐसे कोलाहलकारी सस्मरणा का भरमार है जिन्हे यदि रेकाड पर उतार दिया जाए तो सम्बन्धित महानुभाव फरिश्ते नहीं आदमी नजर आने लगें। हनुमान विशुद्ध प्राकृतिक रूप में, वाल और पूछ के साथ ऐस नजर आएँ कि अध भक्त लोग भडककर रह जाएँ। ऐसे-ऐसे लोग वम्बई म, कलकत्ता में इन्दौर में, उज्जन में, बनारस में, पटना प्यारह में और अव तो दिल्ली में भी हैं। डॉक्टर जीवल मिस्टर

प्रवेश

चन्द ही महीने पहले विहार के विदित आचार्य श्री शिव पूजन सहायजी (पद्मभूषण) आचार्य नलिन विलोचनजी शर्मा तथा श्री जैनेन्द्र कुमारजी मेरे यहाँ कृपया पधारे थे। साथ में विहार के दो-तीन तरुण और भी थे। बातों-ही-बातों में श्री शिवपूजन सहाय ने मुझसे कहा—'उग्र अब तुम अपने संस्मरण लिख डालो।

मैंने कहा— लिख तो डालूं लेकिन जीवित महाशयों की बिरादरी—अन्ध भक्त बिरादरी—का बड़ा भय है। बहुतों के बारे में सत्य प्रकट हो जाए तो उनके यश और जीवन का चिराग हो लुप-लुप करने लगे। कुछ तो मरने मारने पर भी आमादा हो सकते हैं। उदाहरणतः एक जगह वाल्मीकीय रामायण सुन्दर काण्ड की कथा में मेरे एक ऐसे मित्र भी उपस्थित थे जो हनुमानजी के अन्ध भक्त थे। लंका में मन्दोदरी को रोती हुई देखकर हनुमानजी ने समझा सीता जी हैं उनका काज सफल हुई! और वह सहज बन्दर की तरह प्रसन्न चपल हरकतें करने लगे

आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं
ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम।
स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ
निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम्।

मानो हनुमानजी उत्साह में अपनी पूछ चूमते हुए पटकने लगे। मारे हर्ष के वह चंचल चपल उछलन-कूदन खम्भों पर चढ़न उतरन स्वाभाविक बन्दर-लीला करने लगे।

'लेकिन कथा वाचक के मुह से यह अर्थ और हनुमानजी के लिए बंदर और पूछ का प्रयोग सुनते ही वह अंध भक्तजी भड़क पड़े। यहां तक कि उस दिन की कथा ही हजरत न भंग कर डाली।

'इसी तरह यदि मैं लिखू कि दिग्गजाकार महाकवि निराला' पर कलकत्ते के एक मूषकाकार प्रकाशक ने सन १९२८ ई० में बड़ा बाजार की अपनी दूकान में काठ की तलवार से कई प्रहार किये थे जिसे कि 'निराला' भी हतप्रभ होकर प्रायः रोकर रह गए थे, तो सत्य की तह तक गये बगर ही 'निराला' भक्त सनसना झनझना उठेंगे।"

"लेकिन घटना तो सही है" आचार्य शिवपूजन ने कहा।

इसके बाद उपस्थित मित्रों को मैंने दो संस्मरण सुनाये—(१) 'निराला' जी पर एक प्रकाशक द्वारा आक्रमण फिर उस प्रकाशक पर 'निराला' जी का प्रहार बीच में 'उग्र' का उत्तेजक-पाट और (२) 'निराला' के पुत्र के ब्याह में लखनऊ में, कतवढाव में, भरी मजलिस में किसी बहकते प्रकाशक पर एक दहकते समालोचक का आक्रमण और उसके बाद का भूतनाथ की बारात वाला कोलाहल। साथ ही इस दुर्घटना के विवरण में वहां उपस्थित न होने पर भी 'उग्र' की बदनामी।

उक्त दोनों उदाहरण तो निराला विषयक हैं। मेरे खतर-नाकप्राय जीवन में ऐसे कोलाहलकारी सस्मरणों की भरमार है जिन्हें यदि रेकार्ड पर उतार दिया जाए तो सम्बन्धित महानुभाव फरिश्ते नहीं आदमी नजर आने लगें। हनुमान विशुद्ध प्राकृतिक रूप में, बाल और पूछ के साथ ऐसे नजर आएँ कि अंध भक्त लोग भड़ककर रह जाएँ। ऐसे-ऐसे लोग बम्बई में, कलकत्ता में, इन्दौर में, उज्जैन में, बनारस में, पटना में और अब तो दिल्ली में भी हैं। डॉक्टर जीवन मिस्टर

चन्द ही महीने पहले बिहार के विदित आचार्य श्री शिव पूजन सहायजी (पद्मभूषण) आचार्य नलिन विलोचनजी शर्मा तथा श्री जनेन्द्र कुमारजी मेरे यहाँ कृपया पधारे थे। साथ में बिहार के दो-तीन तरुण और भी थे। बातों-ही-बातों में श्री शिवपूजन सहाय ने मुझसे कहा— उग्र अब तुम अपने सस्मरण लिख डालो।

मैंने कहा— लिख तो डालूँ लेकिन जीवित महाशयों की बिरादरी—अन्ध भक्त बिरादरी—का बड़ा भय है। बहुतों के बारे में सत्य प्रकट हो जाए तो उनके यश और जीवन का चिराग ही लुप-लुप करने लगे। कुछ तो मरने-मारने पर भी आमादा हो सकते हैं। उदाहरणतः एक जगह वाल्मीकीय रामायण सुन्दर काण्ड की कथा में मेरे एक ऐसे मित्र भी उपस्थित थे जो हनुमानजी के अन्ध भक्त थे। लंका में मन्दोदरी को रानी हुई देखकर हनुमानजी ने समझा सीता जी हैं उनकी खोज सफल हुई! और वह सहज बन्दर की तरह प्रसन्न चचल हरकतें करने लगे

आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं
ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम।
स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ
निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम्।

मानों हनुमानजी उत्साह में अपनी पूछ चूमते हुए पटकने लगे। मारे हर्ष के यत्र चचल चलन उछलन-कूदन खम्भों पर चढ़न उतरन, स्वाभाविक बन्दर-लीला करने लगे।

'लेकिन कथा-वाचक के मुह से यह ग्रंथ और हनुमानजी के लिए बन्दर और पंछ का प्रयोग सुनते ही वह ग्रन्थ भक्तजी भड़क पड़े। यहां तक कि उस दिन की कथा ही हजरत ने भंग कर डाली।

इसी तरह यदि मैं लिखूं कि दिग्गजाकार महाकवि 'निराला' पर कलकत्ते के एक मूषकाकार प्रकाशक ने सन् १६२८ ई० में बड़ा बाजार की अपनी दूकान में काठ की तलवार से कई प्रहार किये थे, जैसे कि 'निराला' भी हतप्रभ होकर प्रायः रोकर रह गए थे तो सत्य की तह तक गये बगैर ही 'निराला' भक्त सनसना भनभना उठेंगे।"

'लेकिन घटना तो सही है" आचार्य शिवपूजन ने कहा।

हाइड बाहर समाज म सुवर्ण के भोले मृग की तरह दिखायी देने वाले अन्य कालनमि जिन्हें मैं बहुत निकट स जानना हूँ एसा के बारे में अपन सस्मरण यदि कभी मैंन लिखे तो उमका उद्देश्य भण्डाफोड या व्यक्तिगत विद्वेष नही होगा। उद्देश्य होगा यह प्रमाणित करना कि कुछ सत्य एसे भी होते हैं जिन्हे कल्पना तक छू नहा सकती जसे दिग्गजाकार निराला पर मूषकाकार परिवार का आक्रमण कर बठना।

अपनी याददाश्त पत्रिका की जानकारी के लिए लिखने में आत्म प्रशसा और अहकार प्रदर्शन का बडा खतरा रहता है। एसे सस्मरणा में किसी एक मन्द घटना के कारण अनेक गुण-सम्पन्न पुरुष पर अनावश्यक आच भी आ सकती है। मैंने आग लिखा है कि आज के सम्पादक बरिस्टर श्रीप्रकाश ने मेरी पहली कहानी बिना पढ़े ही कूड की टोकरी में डाल दी था। इस एक ही वाक्य से आदरणीय श्रीप्रकाशजी को गलत समझना उलझन भी हो सकती है। बाद में श्रीप्रकाशजी मेरी रचनाओं के प्रशसक रहे और आज भी मुझ पर तो उनका प्रसाद ही रहता है।

इन सस्मरणों को पढ़ने पर किसी को ऐसा लगे कि मैंने निन्दा या बुराई किसी की की है ता यही मानना होगा कि मुझ ठीक तरह स लिखना आया नहीं। दूसरा तक यह कि आदन में अपना मुह देख कोई यह कहे कि दर्पण ता उसका निन्दक है दुष्ट दोषदर्शक ता ठीक है। और अफसोस की बात है कि दर्पण अन्धा पत्थर नहीं देखना दिखाना दरसना-दरसाता दर्पण है।

मेरे प्रकाशक' नाम स यदि मैं कभी अपने सस्मरण परिवारा के बारे में लिखूँ ता कम-स कम पाच सौ पन्ने का पाया प्रचण्ड प्रस्तुत हो—महान मनोरजक। मेरे वास्ताके प्रथम परिवार श्री पन्नालाल गुप्त नामक एक सज्जन थ। बारह

बनारस म नीची बाग में उनकी छोटी-सी दुकान थी। पन्ना लालजी मुझे दो रुपये रोज देते और मैं उह 'महात्मा ईसा' नाटक का एक दृश्य लिखकर देता था।

दूसरे प्रकाशक 'मतवाला' के संचालक श्री महादेव प्रसाद सेठ थे, जिनकी मुख्य लत थी गुणियों पर आशिक होना। मुंशी नवजादिक लाल, ईश्वरी प्रसाद शर्मा, शिवपूजन सहाय, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पाडय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि में, जिसम जो भी खूबियां थी उह खूब ही सहृदयता से परख, खूब ही प्रेम से पूजा महादेव सेठ ने।

महादेव बाबू 'निराला' जी पर ऐसे मुग्ध थ कि उह गुलाब के फूल की तरह हृदय के निकट बटनहोल में सजाकर रखते थ। अघाते नहीं थे महादेव सेठ उदीयमान कवि निराला क गुण गाते। यह तब की बात है जब निराला को कोई कुछ भी नहीं समझता था। आज तो बिना कुछ समझे नव कुछ समझने वाले समीक्षक स्वयंसेवकों की भरमार-सी है।

महादेव प्रसाद सेठ के सहृदय बटनहोल में निराला मुझे ऐसे आकषक लगे कि देखते-ही-देखते उसमें मैं ही मैं दिखायी पडने लगा। महादेव बाबू से मेरी पहली शत यह थी कहिए अनुबंध, कि वह पच्चीस रुपये माहवारी मेरे घर भेजेंगे और स्वयं जो खाएंगे मुझे भी वही खिलाएंगे। दूसरे दिन दोपहर म जब सेठजी अंगूर खाने बठे तब ईमानदारी म अपने आगे के आध अंगूर उन्होंने मेरे सामने पेश किये। इस पर मालू-खाना श्रद्धा से मैंने कहा यह गलत है।" "गलत क्या महा-राज?" विस्मित हो पूछा प्रेमी प्रकाशक ने। मैंने कहा "मेरी आपकी यह शत नहीं थी कि मैं आपकी खुराक आधी बाँट दूं। शत है कि जो आप खाएं वही मैं भी खाऊं। आप रोज आधा सेर पाव अंगूर खाते हैं तो आधा ही पाव मेरे लिए भी मँगाया

करें।" मेरे इस उत्तर पर महादेव प्रसाद थ सो जान म मुरवान।

महादव प्रसाद मठ साहूकार वश में उत्पन्न हो व्यापारी गादी पर बठन पर भा फला से लदे रसिक रसाल जस थ जिन्ह अपन फल लुटाकर द्विजगण का कलरव श्रवण करना ही रुचता था। लेकिन आदमी का सुख विधना को कहा सुहाता है। मौसम वदना फल भड द्विज-दल उड—न स्वर न गान न मण्डली न कलरव। अप्रत्याशित पतझड आया महादव मठ रूपी रसाल अकाल ही सूख गया। पुण्य प्रतापक दिवगत महादेव प्रसाद सेठ का चरित्र परम उदात्त जिसके लिए पन्ना नहीं पाथी चाहिए।

फिर भी यह सब म आज लिख रहा हूँ विवक का ठका लेकर। जब तब महादव प्रसाद सेठ थे म (गजल क माशूका की तरह) उन्ह गालिया हा दता रहा। और वह थ कि मेरा मुह न दख मुझम जो कलाकार था उसी का सराहन चाहत थे।

लेकिन दवन नहा थ महादेव सेठ। वह दाशनिक की तरह अनादर आदर क ऊपर हो रहत थ। बस एक हा दिन उन्हाने मर दुवचना का विरोध किया और मुझ एठकर रख दिया था। महाराज उन्होंने हुक्के की कश का धुआ लम्बी मूछा स छोड़ने हुए कहा आप गाली एस को दिया कर जो आपको उसका उत्तर द। म चुप रहूँ आप गालियाँ दन रह आप कायर हा जाएँगे।

महादव प्रसाद सठ क इस अहिंसक वाण न मरे प्राणा का बेंधा लिया भरमारकर रख दिया। हम दाना एक ही कमर म पास गद्द क पामन पर साया करत थ। पिछला रात तक म पढ़ता रहा। अन्त में मन उन्ह जगाया ही— महादव बाबू मैं आपका माफी मागना हूँ मझ नाद नहा आ रहा है। आप न आत्मा हैं उस दजन्वा परिवार न मरा चौदह

उग्रता पर सान धरते हुए आशीर्वाद के स्वर में कहा था, 'ये बडे आदमिया के लक्षण हैं।"

'निराला' ने जब उस पब्लिशर पर प्रत्याक्रमण किया तब वह मतवाला' कार्यालय ही म रहा करत थ। वह प्रकाशक आया था उन दिना खूब ही बिक्ती उग्र लिखित पुस्तका का आडर लकर। उसी वक्त मेरे किमी तीव्र ताने स तनकर मेरे ही टेबल पर स बडी छुरी उठाकर 'निराला' सनसनाते सडक पर चले गए थ। 'मतवाला' ऑफिस स सौ ही डढ सौ गजा की दूरी पर उन्हाने प्रकाशक पर आक्रमण किया। भगवान् न रक्षा की—व दोनो मेरी छुरी ख्याल ही रह थ कि पास-पडास वाला ने उन्ह पकड लिया।

इसके बाद निराला' ता 'मारकर टर रह' लेकिन वह प्रकाशक पलटकर पुन 'मतवाला' कार्यालय म आया और महादेव सेठ पर गडगडान लगा कि तुम्हा ने मेरी दुर्गति कराई है। जब वह जब भककर चला गया तब 'निराला जी आये। निराला' को देखते ही दृढ क्रोध से कडककर महादेव सेठ ने कहा, मेरे यहाँ कोई बिजनस करने आयगा ता आप उसे मारेंगे? यह मैं बरदाश्त नही कर सकता। आप अपना बिस्तर यहाँ से ले जाइए।"

नतीजा यह हुआ कि बोरिया-बँधना सँभाल महाकविजी उस वक्त चलते फिरते नजर आए। अब पुन मेरी बारी आई। मैंने कहा, "महादेव बाबू! बिस्तर आप मेरा भी बँधवाएँ क्योकि मेरी उत्तजना से 'निराला ने अपन अपमान का बदला लिया था। कानून हाथ म लेकर प्रकाशक ने पहले निराला' पर अपमानक आक्रमण क्या किया, खासकर अपनी दुकान में? सारी सडक पर आपका बिजनस नही हाता। उन्हान 'मतवाला कार्यालय से काफी दूर पर स्वाभिमान का पन्द्र दिखाकर सेटल किया था। सो भी हाथ में नहीं, मेरे गन्दे ये नगे

में। यह अगर गलती है तो 'उग्र' की है 'निराला' की नही।

और अन्त में महादेव प्रसाद सेठ ने महसूस किया कि आवेश म प्रिय महाकवि को बिस्तर गोल करने का हुक्म दकर उन्होन बिजनस की भावना पर तरजीह दी थी। वह 'निराला' की वडी कद्र करत थ। भाग भाग उनके नय स्थान पर गये। चरण पकडकर भावुक सहृदय सुपठित प्रकाशक महादेव प्रसाद सेठ न महाकवि स माफी मागी।

निराला न मतवाला के दरवाज पर आकर मुझे बुलाकर नवाबी के लहज म कहा तुम मद हो!

निराला व्यक्ति पर भी सस्मरणा की निहायत चुस्त पुस्तिका प्रस्तुत का जा सकती है—उस रग की जिसस यह झलके कि यह धरना क ह हमी आपमें से सबके सिद्ध न कि उस रग की जिसम यह जाहिर हो कि वह आदमी तो हैं अपाला और भीम जस लेकिन न तो उनमें हड्डी है और न थान। वही हनुमानजी बिना पूछ के।

२५ १२ ० }
कृष्णनगर }
दिल्ली ५१ }

पाण्डय बचन शमा उग्र

मनकि बेचन पाँडे, वल्द बैजनाथ पाँडे, उम्र साठ साल, क़ौम बरहमन, पेशा अख़बार-नवीसी और अफ़साना-नवीसी, साकिन मुहल्ला सद्दूपुर चुनार, ज़िला मिर्ज़ापुर (यू० पी०), हाल मुकाम कृष्णनगर, दिल्ली ३१, आज ज़िन्दगी के साठ साल सकुशल समाप्त हो जाने के उपलक्ष्य में उन्हें, जो कि मुझे कम या बेश जानते हैं, अपने जीवन के आरम्भिक बीस बरसों की घटनाओं से कसमसाती कहानी सुनाना चाहता हूँ।

विक्रमीय संवत् के १९५८वें वर्ष के पौष शुक्ल अष्टमी की रात साढ़े आठ बजे मेरा जन्म यू० पी० के मिर्ज़ापुर ज़िले की चुनार तहसील के सद्दूपुर नामक मुहल्ले में बैजनाथ पांडे नामक कौशिक गोत्रोत्पन्न सरयूपारीण ब्राह्मण के घर पर हुआ। मेरी माता का नाम जयकली, जिसे बिगाड़कर लोग 'जयकल्ली' पुकारते थे। मेरे पिता तेजस्वी, सतोगुणी, वैष्णव-हृदय के थे। मेरी माता ब्राह्मणी होने के बावजूद परम उग्र, कराल-स्मशाणी स्वभाव की थीं। मेरे एक दर्जन बहन भाई थे जिनमें अधिकतर पैदा होते ही या साल-दो साल के होते होते प्रभु के प्यारे हो गए थे। पहले भाइयों के नाम उमाचरण, देवीचरण, श्रीचरण, श्यामाचरण, रामाचरण आदि थे। इनमें अधिकतर बच्चे दग़ा दे गए थे, अतः मेरे जन्म पर कोई ख़ास उत्साह नहीं प्रकट किया गया। शायद थाली भी न बजायी गई हो, नौबत और शहनाई तो दूर की

बाल । मैं भी कहीं दिवगत अग्रजो की राह न लगू, अत तय यह पाया कि पहले तो मेरी जन्म कुण्डली न बनायी जाए, साथ ही जन्मते ही मुझे बेच दिया जाए। सो, जन्मते ही मुझे यारो ने बेच डाला। और किस क़ीमत पर? महज़ टके पर एक ! उसका भी गुड मगाकर मेरी मा ने खा लिया था। अपने पल्ले उस टके मे मे एक छदाम नहीं पडा था, जो मेरे जीवन का सम्पूर्ण दाम था। अलबत्ता 'जन्मजात बिका' का बिल्ला-जसा नाम तौक की तरह गले मढा गया—बेचन ! बेचन नाम ऐसा नहीं जिसे ओमप्रकाश की तरह भारत प्रचलित कहा जाए। यह तो उत्तर भारत के पूरबी जिलो मे चलने वाला नाम है, सो भी अहीरा, कोरियो, तथाकथित निम्न वर्गीयों मे प्रचलित। ब्राह्मण के घर मे पदा होने पर भी मुझे यह जो मन्द नाम पटका गया उसकी बुनियाद मे मेरी बहबूदा जिन्दगी दराज की कामना ही थी। किसी भी नाम से बेटा जिये तो ! आज जीवन के ६०वें साल म मैं साधिकार कह सकता हू कि मुझे ही नहीं, मौत को भी यह नाम नापसन्द ह। लेकिन, अब, इस उम्र मे तो ऐसा लगता है यह नाम नहीं, तिलस्मी गडा है जिसके आगे काल का हथकण्डा भी नहीं चल पा रहा है।

इस तरह—मैं शिकायत नहीं करता—देखिए तो जहा मैं पदा हुआ वह परिवार तो ग़रीब था ही नाम भी मुझे जगन्नाथ भुवनेश्वर, रामेश्वर, धनीराम, मनीराम सूर्यनारायण सुमित्रानन्दन सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन जसा नहीं मिला ! और गोया इससे भी मेरे दुनाम्य का सन्ताप नहीं हुआ ता मैंने अभी तुतलाना भी नहीं सीखा था कि पिता का स्वर्गवास हो गया। इसके बाद मैं अपने बड़े भाई के आश्रय म आया जो विवाहित थे

नहीं

और पिता के बाद घर के पालक थे। मेरे बड़े भाई ने विधि से कुछ भी पढ़ा नहीं था, फिर भी बुद्धि उनकी ऐसी तीव्र थी कि वह हिंदी तो बहुत ही अच्छी, साथ ही संस्कृत और बंगला भी खासी जानते थे, वैद्यक और ज्योतिष में भी टांग अड़ाने की योग्यता रखते थे। वह समस्या पूर्ति-युग के कवि और गद्य लेखक भी खासे थे। प्रूफ-शोधन तथा पत्रकार-कला से भी उनका घन-घोर सम्बन्ध था। मेरे यह बड़े भाई साहब जब जवान थे तभी सनातन धर्म के भाग्य में, परिवार पद्धति के भाग्य में, सर्वनाश की भूमिका लिखी हुई थी। अतएव जाने अनजाने युग के साथ भाई साहब को भी इस सर्व-नाश नाटक में अपने हाथों पांव में कुल्हाड़ी मारने का उन्मत्त पाट अदा करना पड़ा। हम नज़दीक थे, अतः भाई साहब का काम हमें अधिक दुखदायी एवं बुरा लगा। लगा दुनिया में उन जैसा बुरा कोई था ही नहीं। लेकिन ज़रा ही ध्यान से देखने से पता चल जाएगा कि मेरे घर में जो हो रहा था वह अकेले मेरे ही घर का नहीं, कमो-बेश समाज के घर घर का नाटक था।

और मैं उस गली की कहानी बतला दूं जिसमें मैंने जन्म लिया था। सदरपुर मुहल्ले की एक गली—बैंभन-टोली। गली के इस सिरे से उस सिरे तक ब्राह्मणों ही के मकान एक तरफ और दूसरी तरफ भी एक तेली तथा दो-तीन कोरियों के घरों को छोड़ बाकी जमीनें ब्राह्मणों की। दो तीन घरों को छोड़ बाकी सभी ब्राह्मण खाते-पीते खासे। एकाध तो पूंजीवाले भी। दक्खिनी नाके पर भानुप्रताप तिवारी, जिनके बड़े-बड़े दो दो मकान। फिर ग़रीब मुसई पाठक, फिर मेरे पिता की योग-क्षेम

सन्नीम गृहस्थी, चचा भी हमीं-से, लेकिन वृद्ध होने से उनके

हाथ मे कल्पवक्ष की डाल-जसी ग्रलौकिक विभूति हमेशा ही रही जिससे यह प्रभाव वाले और प्रभावहीन थे। इसके बाद हमारे पट्टीदार भाई विन्ध्येश्वरी पाडे का परिश्रमी, प्रसन्न परिवार। फिर ब्रह्मा मिश्र की हवेली। जय मङ्गल त्रिपाठी का घर और अत मे बेचू पाडे का सहन। एक भानुप्रताप तिवारी को छोड बाकी सभी ब्राह्मण जजमानी वत्ति वाले थे। हवेली वाले ब्रह्मा मिश्र की जजमानी सबसे ज्यादा थी। बाग बगीचे, खेती-बाडी, लेन देन भी होता था। बेचू पांडे उनके आधे के भागीदार थे। हम लोगो की जजमानी यू ही जयसीताराम थी। कहिए हम शानदार भिखारी थे। भिखारी सडक पर कपडे फला या गलियो मे हाथ पसारकर भीख मागता है लेकिन हमे गरीब और ब्राह्मण जानकर जाने लोग हमारे घर सीधा पहुचा जाते थे। यह भीख भी शानदार थी, तब तक जब तक ब्राह्मणो के घर मे ब्राह्मण पदा होते थे। लेकिन जब ब्राह्मणो के घर मे ब्रह्मराक्षस पदा होने लगे तब तो यह जजमानी वत्ति नितान्त कमीना धधा—स्वय नीचातिनीच होकर भी दूसरो से चरण पुजवाना—रह गई थी। यह कथा आज से ५६ वष पूव की है। तभी तथाकथित सनातन धम के नाश का आरम्भ उसी के अनुगामियो–धम के ठेकेदार ब्राह्मणों–द्वारा हो चुका था। मानो तो देव नहीं पत्थर ! धम विश्वास पर पनपता है। जिस जनस्थान म मेरे बड भाइ साहब पदा हुए थे उसका विश्वास धम से उठ रहा था। मुहल्ले के हर घर मे एक-न-एक ऐसा नवान पदा हो चुका था जो पुरानी मर्यादाओ और धम को ताक पर रखकर उच्छृङ्खल आचरण मे रत रहा करता था। और घर यार मार मा क परिवार के उस प्राणी का विरोध

बीग

\

करने मे असमर्थ थे। शास्त्रों मे विधान है कि कुल धर्म विरुद्ध आचरण करने वाले को सडी अँगुली की तरह काटकर समाज-तन से अलग कर देना चाहिए। हम जब तक ऐसा करते रहे तब तक समाज का स्वास्थ्य चुस्त-दुरुस्त था।

ग़लतीवश, मोहवश, दुर्भाग्यवश जब से हमने गलित-अग को अपना अग जानकर काट फेंकने से इन्कार कर गले से लगाना शुरू किया है, तभी से विष सारे शरीर मे व्याप्त हो गया है। अब से पचास साठ वर्ष पहले अखिल भारतीय स्तर पर सहस्र सहस्र ऐसे ब्रह्मराक्षस पैदा हुए थे, जिन्होंने कुकर्मों के स्लो-पायजन द्वारा मारते-मारते सनातन धर्म को मार ही डाला। इस पूर्णता से कि वह सनातन धर्म तो अब पुन जागने जीने वाला नहीं जिसके सरगना ब्राह्मण लोग थे। ब्राह्मण कुल मे मैं भी पैदा हुआ हूँ। कोई पूछ सकता है कि सनातन धर्म या ब्राह्मण धर्म के इस विनाश पर मेरी क्या राय है। मेरी क्या राय हो सकती है? मैं कोई व्यावसायिक 'राय' साहब नहीं। जो वस्तु नष्ट होने योग्य होती है, जिसकी उपयोगिता सर्वथा समाप्त हो जाती है, वही नष्ट होती है, उसी का अत होता है। रहा मेरा ब्राह्मण कुल मे पैदा होना, सो उसे मैं नियति की भूल मानता हूँ। जब से पैदा हुआ तब से आज तक शूद्र का शूद्र हूँ। 'जन्मना जायते शूद्र', मनु का वाक्य है कि नहीं—"सस्कारात द्विज-मुच्यते।" जन्म से सभी शूद्र होते हैं, बाद को सस्कार द्वारा नव प्रज्ञा प्राप्त कर द्विज बनते हैं। वह सस्कार पाण्डेय बेचन शर्मा के पल्ले न तो बचपन मे पड़ा था, न जवानी मे और न आज तक। आदि से आज तक एक

 दिन भी जो ब्राह्मण रहा हो उसे फिर मनुष्य-जन्म मिले,

फिर टट्टी की हाजत सताए, फिर राम राम के पहर आबदस्त लेने की घृणित घडी उसके हाथ मे आए। और अब इस साठ वष की वय मे यदि मैं शिकायत करूँ कि हाय रे, मैं सारे जीवन शूद्र-का-शूद्र ही रहा तो मुझ-सा मतिमन्द टार्च लाइट लेकर ढूढने पर भी दुनिया मे नहीं मिलेगा। सो, जसे मैं स्वय को बुरा नहीं मानता, वसे ही शूद्र को भी नहीं मानता। मैं जसे स्वय को भला ही समझता हू, वसे ही शूद्र को भी भला ही समझता हू। शूद्र द्विज (या ब्राह्मण) का पूव रूप है, वसे ही जसे मूर्ति का पूव रूप अनगढ पत्थर। और मैं अपनी गनगढता को गव से देखता हू, इसलिए कि जब तक अनगढ हू तभी तक विश्वविराट की मूर्तियो की सम्भावनाए मुझमे सुरक्षित हैं। गढा गया नहीं कि एकरूपता, जडता गले पडी। श्रीकृष्ण की मूर्ति का पत्थर श्रीकृष्ण ही की मूर्ति भावना का प्रतीक रह जाता है। उसे राधा बनाना असम्भव है। सो, लो ! मैं ऐसा अनगढ पत्थर जिसमे रूप नहीं, रेखा नहीं। और न ही विकट विकट भविष्य मे कुछ बनता-बनाता ही दिखायी देता है। फिर भी, मैं परम सन्तुष्ट इस कल्पना-मात्र से कि मुझे कोई एक बडा-से-बडा रूप नहीं मिला तो बला से मेरी, मैं अपनी अनगढता ही से खुश हू। यह अनगढना जब तक है तब तक कोई भी यानी सभी रूप मुझमे हैं। खर इन बातो मे क्या धरा है ! मैं यह कहना चाहता था कि आज भी, मैं निस्सकोच शूद्र हू और ब्राह्मणों के घर म पदा होने के सबब—साधारण नहीं—असाधारण शूद्र हू। ब्राह्मण ब्राह्मणी से मुझे शूद्र शूद्राणी अधिक आपक, अपने अग के, मालूम पडते हैं। यहा तक कि आज भी जब मैं खानाबदोशों, बजारों जिप्सियों का गन्दगी, जवानो,

जादू और मूढ़ता से भरा गिरोह देखता हूँ तब मेरा मन करता है कि ललककर उन्हीं में लीन हो जाऊँ, विलीन। उन्हीं के साथ आवारा घूमूँ फिरूँ, किसी हर जाई, आवारा, बजारन युवती के मादक मोह में—नगर नगर, शहर शहर, दर-दर—छुरी, छुरे, मूँगे, कस्तूरी मृग के नाफे, शिलाजीत बेचता।

मेरा ख़याल है अक्षरारंभ से पहले ही मेरे कान में 'वेश्या' या 'रण्डी' शब्द पड़ चुका था। मैं पाँच ही-छः साल का रहा होऊँगा जब मेरे घर में मिर्जापुर की एक टकल वेश्या का प्रवेश हुआ था। पुरुष-वेश में चूड़ीदार चपकन और पगड़ी पहनकर वह बाहरवाली कोठरी में रात में आयी और तब तक रही जब तक मेरे चाचाजी हाथ में खड़ाऊँ लेकर उसे मारने को झपटे नहीं—यथायोग्य दुर्वचन सुनाते हुए। मुहल्ले के आधे दर्जन मनचले ब्राह्मण युवक उस वेश्या से मिलने मेरे यहाँ आ जमते थे। मकान के अन्दर की ब्राह्मणियाँ मेरी माँ और भाभी किंकर्तव्यविमूढ़ा हो गई थीं। भाभी तो रोने भी लगी थी। पर ये कुलीन औरतें मुखर विरोध करने में असमर्थ थीं, इसलिए कि मेरे उन्मत्त भाई साहब एक ही लाठी से दोनों ही को हाँकने में कोई ग्लानि या हानि नहीं समझते थे। वैसे यह मन्द जमावड़ा मेरे घर हुआ था, लेकिन हमप्याले लोग पड़ोसी ही थे। नेता (यानी मेरे पिता) के उठ जाने से मेरे घर में प्रचण्ड अराजकता थी। लेकिन वश चलता और मजनून सरपरस्तों का शासन न होता, तो दूसरे यार भी अपने घरों में वेश्या को टिकाकर सुरा सुन्दरी-स्वाद लेने से बाज न आते। पाप पर मोहित सभी थे। सभी थे तत्त्वतः

 धर्म से विरहित। जुआ तो प्रायः मुहल्ले के किसी भी

फिर टट्टी की हाजत सताए, फिर राम राम के पहर आबदस्त लेने की घृणित घडी उसके हाथ मे आए। और अब इस साठ वय की वय मे यदि मैं शिकायत करूँ कि हाय रे, मैं सारे जीवन शूद्र का-शूद्र ही रहा तो मुझ-सा मतिमन्द टार्च लाइट लेकर ढूढने पर भी दुनिया मे नहीं मिलेगा। सो, जसे मैं स्वय को बुरा नहीं मानता, वसे ही शूद्र को भी नहीं मानता। मैं जसे स्वय को भला ही समझता हू, वसे ही शूद्र को भी भला ही समझता हू। शूद्र द्विज (या ब्राह्मण) का पूव रूप है, वसे ही जसे मूर्ति का पूव रूप अनगढ पत्थर। और मैं अपनी अनगढता को गव से देखता हू, इसलिए कि जब तक अनगढ हू तभी तक विश्वविराट की मूर्तियों की सम्भावनाएँ मुझमे सुरक्षित हैं। गढा गया नहीं कि एकरूपता, जडता गले पडी। श्रीकृष्ण की मूर्ति का पत्थर श्रीकृष्ण ही की मूर्ति भावना का प्रतीक रह जाता है। उसे राधा बनाना असम्भव है। सो, लो! मैं ऐसा अनगढ पत्थर जिसमे रूप नहीं, रेखा नहीं। और न ही विकट विकट भविष्य मे कुछ बनता-बनाता ही दिखायी देता है। फिर भी, मैं परम सन्तुष्ट इस कल्पना-मात्र से कि मुझे कोई एक बडा-से-बडा रूप नहीं मिला तो बला से मेरी, मैं अपनी अनगढता ही से खुश हू। यह अनगढता जब तक है तब तक कोई भी यानी सभी रूप मुझमे हैं। खर, इन बातों मे क्या धरा है! मैं यह कहना चाहता था कि आज भी, मैं निस्सकोच शूद्र हू और ब्राह्मणों के घर म पदा होने के सबब—साधारण नहीं—असाधारण शूद्र हू। ब्राह्मण ब्राह्मणी से मुझे शूद्र-शूद्राणी अधिक आत्मक, अपने अग से, मालूम पडते हैं। यहाँ तक कि आज भी जब मैं खानाबदोशों, बजारों जिप्सियों का गन्दगी, जवानी,

बार्न्म

जादू और मूखता से भरा गिरोह देखता हूँ तब मेरा मन करता है कि ललककर उन्हीं मे लीन हो जाऊँ, विलीन। उन्हीं के साथ आवारा घूमूँ फिरूँ, किसी हर जाई, आवारा, बजारन युवती के मादक मोह मे— नगर नगर, शहर शहर, दर-दर—छुरी, छुरे, मूँगे, कस्तूरी मृग के नाफे, शिलाजीत बेचता।

मेरा ख़याल है अक्षरारभ से पहले ही मेरे कान मे 'वेश्या' या 'रण्डी' शब्द पड चुका था। मैं पाच-ही-छ साल का रहा होऊँगा जब मेरे घर मे मिर्जापुर की एक टकल वेश्या का प्रवेश हुआ था। पुरव-वेश मे चूडीदार चपकन और पगडी पहनकर वह बाहरवाली कोठरी मे रात मे आयी और तब तक रही जब तक मेरे चाचाजी हाथ मे खडाऊँ लेकर उसे मारने को झपटे नहीं— यथायोग्य दुर्वचन सुनाते हुए। मुहल्ले के आधे दजन मनचले ब्राह्मण युवक उस वेश्या से मिलने मेरे यहा आ जमते थे। मकान के अन्दर की साहुलियाँ मेरी माँ और भाभी किंकर्तव्यविमूढा हो गई थीं। भाभी तो रोने भी लगी थी। पर ये कुलीन औरतें मुखर विरोध करने मे असमर्थ थीं, इसलिए कि मेरे उन्मत्त भाई साहब एक ही लाठी से दोनों ही को हाँकने मे कोई ग्लानि या हानि नहीं समझते थे। वैसे वह मन्द जमावडा मेरे घर हुआ था, लेकिन हमख्याले लोग पडोसी ही थे। नेता (यानी मेरे पिता) के उठ जाने से मेरे घर मे प्रराण्ड अराजकता थी। लेकिन कम चलता और मजबूत सर-परस्तों का शासन न होता, तो दूसरे वार भी अपने घरों मे वेश्या को टिकाकर सुरा-सुन्दरी-स्वाद लेने से बाज न आते। पाप पर मोहित सभी थे। सभी थे तत्त्वत

बेईस धर्म से विरहित। जुआ तो प्राय मुहल्ले के किसी भी

घर मे खिलाया जाता था, जिससे उस घर के किसी-न किसी प्राणी को नाल के रूप मे एक-दो रुपये भी मिल जाते थे। मेरे घर मे जुआ अक्सर हुआ करता। अक्सर जुए से जब नाल की रकम वसूल होती तब मेरे घर मे भोजन की व्यवस्था होती थी, आटा, चावल, दाल और नमक आता था। मेरी मां और भाभी को मकान के पिछले खण्ड मे कैद कर मेरा भाई बिचले खण्ड मे जुए का फड डालता, जिसमे मुहल्ले, कस्बा और आसपास के गावो के भी शातिर जुआरी जुडते। चरस और गाजे की चिलमे लपलपातीं, ग्यौडा यानी विकट देसी दारू की दुर्गन्धमयी बोतलें खुलतीं। जब भी मेरे घर मे जुआ जमता भाई की आज्ञा से दरवाजे पर बैठकर मैं गली के दोनों नाके ताडता रहता कि पुलिस वाले तो नहीं आ रहे हैं। जरूर इस ड्यूटी के बदले पैसा-दो पैसा मुझे भी किसी परिचित जुआरी से मिलता रहा होगा। जुए की इस जबरदस्त जकड मे मेरा भाई इस कदर पड गया था कि भाभी के सारे गहने बिक गए या अन्त मे बिक जाने के लिए गिरवी रख दिये गए। फिर मेरी मा के गहनो की बारी आई। जिसने अपना सचय सौंपने मे जरा भी हिचक दिखलायी उसे भाई साहब ने जूता, थप्पडों, घूसों, लातों से पूरा—अक्सर गांजा चरस या शराब के नशे मे। या तो भाई मुझे भी मारता पीटता था, बेसबब, बहुत बुरी तरह अक्सर लेकिन वह जब मेरी मां को मारता और वह अनाथा विवशा रोती घिघियाती (लडका अपना ही था, अत खुलकर रो घिघिया भी नहीं सकती थी) तब भाई का आचरण मुझे बहुत ही बुरा मालूम पडता था। पर मैं कर ही क्या सकता था! चार-पाच साल का बालक! उसके सिर पर

घर की सरदारी पगड़ी बाँधी गई थी। परिवार का नेता था वह। अन्नदाता था वह। सो, मेरी भाभी-आई के गहने जब जुआ यज्ञ मे स्वाहा हो गए तब घर के बरतन भाँडों की शामत आई। जितने भी काम या दाम लायक बरतन थे, या तो अडोसी पड़ोसी के घर गिरों धरे गए या पाँच रुपये की वस्तु रुपया डो रुपया मे बरबाद की गई। इसके बाद ब्राह्मण के घर मे जो दो-चार धर्म-ग्रन्थ थे—भागवत, गरुडपुराण, रामायण, गीता—मेरे भाई ने एक एक को दोनो हाथों से बेचकर प्राप्त रकम को या तो जुआ मे अथवा गाजा चरस के धुआ मे उड़ा दिया। इसके बाद दो चार बीघे दान-दक्षिणा मे मिले जो खेत थे उनकी नौबत आई। खेतों को भी बन्धक या भोगबन्धक रखकर भाई साहब ने रुपये उतारे और उनका दुरुपयोग निस्संकोच भाव से किया। और कर्ज और कर्ज और कर्ज! भाई के राज मे परिवार ने जब जो भी पाया खाया कर्जा।

उन्हीं दिनों, एक दिन, छापा मारकर चुनार की पुलिस ने सद्दूपुर मुहल्ले के जुआरियों और उनके संगियों को रंगे हाथ गिरफ्तार कर लिया था। जुआ उस दिन मेरे घर मे नहीं मेरे घर के पिछवाड़े बलगू नामक कुम्हार के घर मे हो रहा था। उस दिन मेरे भाई साहब जुए मे शामिल नहीं थे, एक दोस्त की बैठक मे उपन्यास पढ रहे थे। लेकिन पुलिस छाप के ठीक पहले बलगू के घर यह सूचना देने गये थे वहीं से खबर-सुराग पाकर कि भागो, पुलिस आ रही है, कि पुलिस वाले आ ही धमके! शायद सबसे पहले मेरे भाई साहब ही पुलिस की पकड़ में आये थे। गिरफ्तार दर्जन भर जुआरी हुए होंगे।

 फिर भी, कई जान लेकर जूते छोड़कर भाग गए। उन जूतों

की लम्बी माला अलगू कुम्हार से ही तयार कराने के बाद उसीके गले मे डालकर, जुलूस बनाकर जब पुलिस वाले राजपथ से जुआरियो को हवालात की तरफ ले चले तो बधुओ मे मेरा भाई भी था। उस भयकारी जुलूस के पीछे काफी दूर तक अपने भाई या अन्नदाता के लिए रोता हुआ मैं भी गया था। फिर घर लौटने पर देखा भाई और भाभी रो रही थीं। काफी दिनों मिर्जापुर मे केस चलने के बाद उस मामले मे भाई को पचास रुपये जुरमाना हुआ।

और चुनार मे रहने का अब कोई तरीका बच नहीं रहा। और कजदाताओं से बेइज्जत होने का प्रसग पगे पगे प्रस्तुत होने लगा। और घर मे अबलाएँ और बच्चे दाने-दाने के मोहताज हो गए। तब और तभी मेरे बडे भाई को देस छोड परदेस जाने और कमाने की सूझी। फलत वह पहले काशी और बाद मे अयोध्या की राम लीला मडलियो मे एक्टिग करने लगे। तनखाह पाते थे दोनों वक्त का भोजन और तीस रुपये मासिक। इन रुपयों मे से दस पाच अक्सर वह चुनार भी भेजते थे। पर चुनार मे अक्सर चूहे डड ही पेला करते थे, या जजमानी से भिक्षा मिल जाती थी, या मेरी भाई किसी की मजूरी पर कूट-पीसकर लाती थी। बडी मुश्किलों से सुबह खाना मिलता तो शाम को नहीं, शाम मिलता तो सवेरे नहीं। जहाँ भोजन-वस्त्र के लाले वहा शिक्षा-दीक्षा की क्या हालत रही होगी, सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। शिक्षा-दीक्षा दूर, मेरे सामने तो आखें खोलते ही जीवन ग्रन्थ का जो पष्ठ पढा वह शिक्षा-दीक्षा को चौपट करने वाला था। जीवन को स्वग और नरक दोनों ही का सम्मिश्रण कहा जाए तो मैंने नरक के मार्मिक सिरे

से जीवन-दर्शन आरम्भ किया और बहुत देर, बहुत दूर, तक उसी राह चलता चला। इस बीच में स्वर्ग की केवल सुनता ही रहा मैं। मेरी कोशिश सही न होगी, स्वर्ग जीवन में मुझे कहीं नजर आया नहीं। और नरक की तलाश में किसी भी दिशा में दूर तक नजर भटकाने की जरूरत ही नहीं पड़ी। सो, समय पर न मिले तो स्वर्ग के लिए भी कौन प्रतीक्षा करे! नरक लाख बुरा बदनाम हो, लेकिन अपना तो जीवन-संगी बन चुका है, सहज हो गया है, रास आ गया है। डालडा खाते खाते जैसे शुद्ध घृत की सुध बुध भी समाप्त हो जाती है, पहचान परख तक भूल जाती है, वैसे ही लगातार सुलभ होने से नरक भी धीरे धीरे परिचित, प्रिय, प्रियवर यानी प्रियतम हो जाता है। ग़ालिब ने अपने ढंग से कहा है—"क्यों न फिरदौस को दोजख़ से मिला दें या रब! सैर के वास्ते थोड़ी-सी फिजा और सही।" जब मेरे पिता जीवित थे तभी न जाने कैसे मेरे दोनों बड़े भाइयों को रामलीला में पाट करने का चस्का लग गया था। वे किशोरावस्था ही में ऐसे बेपरहे हो गए थे कि कुल और पिता को धता बताकर चुनार से मिर्जापुर भागकर रामलीला में राम-लक्ष्मण का अभिनय करने लगे। क्रोध और भविष्य के भय से काँपते हुए पिता, जब मिर्जापुर पहुँचे तो क्या देखते हैं कि दोनों सपूत राम-लक्ष्मण बने रंगमंच पर शोभायमान हैं। कहते हैं वह दृश्य पिता से देखा न गया। जनता को भूल, स्टेज पर झपट दोनों के माथे से मुकुट किरीटादि नोच-फेंक वहीं से उन्हें भर्राते भूले बछड़ों की तरह हाँककर चुनार ले आए थे। पिता के देहान्त के बाद चुनार की विजय दशमी वाली लीला में, अक्सर वह कोई-न-कोई पाट

ही 'प्ले' किया करते थे। चुनार ही में एक दो बार सीता बनाकर मुझे भी बडे भाई ने इस घाट पर उतार रखा था। जब वह अयोध्या की रामलीला-मडली में थे तब मुझे उन्होंने बनारस की एक लीला-मडली में अपने किसी खत्री मित्र के हवाले कर रखा था। तब मैं आठ साल का रहा होऊँगा या नौ का। जुल्फों में तीन-तीन फूल चिडी बनाता था। काफी तेल लगाने के बाद बालों में सस्ती वेसलिन भी लगाता था। वह वेसलिन, जिसकी गन्ध पिला हाउस (बबई) या सरकटा गली (कलकत्ता) की सस्ती वेश्याओं के अग से आती है। कुछ ही दिनों बाद भाई साहब ने बनारस वालो की मडली से मुझे भी साधुओं की रामलीला-मडली में बुला लिया था। भाई साहब की नजर में मेरे उनके सग रहने में अनेक फायदे थे। पहले तो घर में कोई शरारती नहीं रहेगा, दूसरे उनकी निगरानी में रामलीला वालों की बुरी हवा से मैं बचूगा तीसरे 'ब्वाय सरवेंट' चौबीस घण्टे हाजिर—बिला तनख़ाह। ऊपर से रामलीला में लक्ष्मण और जानकी बनकर आठ दस रुपये मासिक कमा कर देने वाला। उन दिनो रामलीला के निश्चित पार्टों के सवाद याद करने के अलावा भाई का एक मित्र बरागी पखावजी मुझे ताल और स्वर यानी पक्के रग के सगीत की शिक्षा भी दिया करता था। उन्हीं दिनों नाचना नहीं, तो नाचने की चुस्ती से चचन चरण चलाना, ठुमकना, थिरकना, बल खाना वग़ैरह भी मुझे सिखलाया गया था। छुटपन में मेरी शिक्षा बिलकुल प्रार भिक क ख ग दरजा तक हुई थी। अभी थोडा ही बहुत अक्षर-शब्द ज्ञान हो पाया था कि मुझे ऐसा लगा कि यह पढ़ना-पढ़ाना मेरे बलबूते की बात नहीं है। मगर इससे

गला छूटे तो कसे ? सुना था हनुमानचालीसा का पाठ करने से सारे दुख दूर, मसले स्वयमेव हल हो जाते हैं। लेकिन हनुमानचालीसा मेरे पास कहा ! साथ ही पास में 'पीसा' कहा कि हनुमानचालीसा खरीदा जा सके ! मैं जिस दरजे में पढ़ता था उसी में एक काला सा लडका था किसी छोटी जाति का। वह अपने बस्ते में रोज हनुमानचालीसा की एक प्रति ले आता था। और मैं ललचाकर, तडपकर रह जाता था उस दो पसे की विख्यात पुस्तक के लिए। अन्त में मैंने चोरी करने का निश्चय किया। मैं ऊँच लडका, वह नीच, लेकिन मैंने उसकी हनुमानचालीसा चुरा ली और बडे चाव से मैं उसका पाठ करने लगा। मुझमें जो ब्राह्मण है वह आज भी यही सोचता है कि वह हनुमानचालीसा ही का प्रभाव था कि स्कूली शिक्षा से हटाकर मुझे रामलीला-मडली में डटाया गया। यहा पर मेरा परिचय श्रीरामचरितमानस से होना ही था क्योंकि मैं जानकी, लक्ष्मण और भरत तक का पार्ट किया करता था। रामलीला-मडलियों ही में मैंने सुलझे साधुओं के व्रत और निष्ठापूर्वक नवरात्रियों के नौ दिनों में रामायण का पाठ होते देखा। सुना, ऐसे पाठ के फल अनन्त। सो, मैंने नौ-दस ग्यारह की वय में सामर्थ्यानुसार श्रद्धा भक्ति से रामायण के नवाह्न पाठ किये। एक नहीं, अनेक। इन लीला धारियों की मडली में फुरसत के अवसरों में लोग अन्त्याक्षरी-सम्मेलन भी अक्सर किया करते थे, जिनमें ज्यादातर तुलसी कृत रामायण से ही उदाहरण दिये जाते थे। इन सम्मेलनों से भी मुझे रामायण का स्पर्श अधिकाधिक होने लगा था। उन दिनों रामायण के विविध अश मेरे कठाग्र, जिह्वाग्र रहा करते थे। और उन दिनों

रामलीला में अभिनेता सवाद करते रहते थे ? पहले रामायणी चोपाई या दोहा अध स्वर में सुनाता, फिर अभिनेता उसका (रटा या ज्ञात) अर्थ जनता को सुना देता था । रामायणी कहता—देवि, पूजि पद कमल तुम्हारे, सुर नर-मुनि सब होहिं सुखारे । तब सीताजी कहतीं—हे देवि ! तुम्हारे सव-पूज्य पद कमलो को पूज पूजकर सुर, नर और मुनि सभी सुख पाते हैं । सवाद की इस विधि में अक्सर अभिनय और उसके प्रभाव का खून हो जाता था, पर जो जनता लीला देखने आती थी वह रामलीला को थिएटर न समझ किसी भी भाव, भाषा या भेस में भगवान भगवती की भावना मात्र से प्रभावित होने वाली होती थी । एक बार कहीं भरत का पाट करने वाला हमारा साथी बीमार पड गया। अब मुश्किल यह सामने आई कि भरत का कठोर काम करे तो कौन ? इस पर मेरे बडे भाई ने मडली के मालिक महन्त को वचन दिया कि वह चिन्ता न करें, भरत का काम बेचन कर लगा । मुझसे उन्होंने गाँजे के नशे में चूर आखें दिखाकर कहा—भरत के काम में जरा भी भूल की तो याद रहे, लीला भूमि से ही पीटते पीटते तुझे डेरे पर ले चलूगा । उनसे पिटने का मुझे इतना डर था कि भरत तो भरत वह धमकाता तो मैं कर्मसिनी भूल दशरथ का पाट भी अदा करके रख देता, रावण का भी ! उस दिन राम के वन-गमन के बाद ननिहाल से बेहाल लौटे भावुक भाई भरत का सवाद था कौशल्या के आगे । वसिष्ठ की सभा में परम साधु बडे भाई के मोह में भरत को रोते चित्रित किया है तुलसी दासजी ने । मुझे रोना आया था बडे भाई के क्रूर भय से । और मैंने बहुत ही सावधानी से भरत का अभिनय किया।

रामायण मुझे याद ही थी, सो बिना रामायणी का मुख देखे सवाद की चौपाई पर-चौपाई, दोहे-पर-दोहे अर्थ-सहित मैं सुनाता गया। मैं रोता था भाई के भय से, जनता ने समझा भरतजी अभिनय कला का शिखर छू रहे हैं। खूब ही जमा मेरा काम! महन्तजी प्रसन्न हो गए और स्टेज ही पर दस रुपये इनाम, तथा एक रुपया महीना तनख़ाह बढ़ने की घोषणा हुई। बधाइयाँ और इनाम के रुपये भाई साहब के पल्ले लगे। पाँव तो उस दिन भी मैं भाई साहब के दाबता रहा तब तक जब तक वह सो नहीं गए—हा उस दिन उन्होंने नित्य की तरह, पाव दबवाते दबवाते दो चार लातें नहीं लगाई कि मैं ठीक से क्यों नहीं दबाता? कि मैं झप-कियाँ क्यों लेता हू?

"अरे बेचन ! न जाने कौन आया था—उद जी, उद जी, पुकार रहा था !"

ये शब्द मेरी दिवगता जननी, काशी मे जमी जयकली के हैं जिन्हे मैं 'आई' पुकारा करता था। यू० पी० मे माता या माई को आई शायद ही कोई कहता हो। महाराष्ट्र मे तो घर घर मे माता को आई ही सम्बोधित किया जाता है। कसे मैंने माई को आई माना, आज भी विवरण देना मुमकिन नहीं। लेकिन बम्बई जाने पर जब लक्ष लक्ष महाराष्ट्रियो के मुह से 'आई' सुना तो मेरे आन्तरिक हर्ष की सीमा न रही। जो हो। मैं यह कहना चाहता था कि मेरी जननी इस क़दर अन पढ थीं कि जो साथकता उन्हे 'उद'जी मे मिलती थी वह 'उग्र जी मे नहीं। बिलकुल नहीं। उनसे जब मैंने अपने जन्म के समय के बारे मे पूछा तो उन्होंने बतलाया कि पौष शुक्ल अष्टमी को रात मे जब तुम्हारे पिता बिहारीसाहु के मन्दिर से पूजा करके लौटे थे तब तुम पदा हो चुके थे। दूसरा पता उन्होंने यह दिया कि तुम्हारी बारही के दिन माता दयाल का जन्म हुआ था। यह माता दयाल मेरे भतीजे थे। पिता दिवगत बजनाथ पाडे चुनार के खासे धनिक वणिक बिहारीसाहु के राम मन्दिर मे वतनिक पुजारी थे। वेतन था रुपये पाच माह वार। साथ ही चुनार मे जजमानी-वृत्ति भी पर्याप्त थी। उन्हीं मे एक जजमान बहुत बडा ज़मींदार था

जिसके मरने के बाद उसके दोनों पुत्रों मे सम्पत्ति के लिए घोर अदालती सघर्ष हुआ । उसी मुकदमे मे जमींदार के बडे लडके ने कुल-पुरोहित की हैसियत से मेरे पिता का नाम भी गवाहो मे लिखा दिया था, गोकि उन्होंने भाई के द्वन्द्व मे पडने से बारहा इन्कार किया था । नये जमींदार ने मेरे पिता को प्रलोभन भी 'आफर' दिये । लेकिन वह भद्रभाव से अस्वीकार ही करते रहे कि समन आ धमका । लाचार अदालत में हाजिर तो वह हुए, पर पुकार होते ही उन्होने कोर्ट से साफ साफ कह दिया कि उन्हें माफ करे कोर्ट, उनकी गवाही उस पार्टी के विरुद्ध पड सकती है जिसने गवाह बनाकर उन्हें अदालत के सामने पेश कराया है । तब तो आपकी गवाही जरूर होनी चाहिए, अदालत ने आग्रह किया—और गवाही हुई । कहते हैं उसी गवाही पर कोर्ट का सारा फैसला आधारित रहा । बडा भाई हार गया । वही जिसने मेरे पिता को गवाह बनाया था । जीत छोटे भाई की हुई । इस सबमें पिता के पल्ले सिवाय सत्य के और कुछ भी नहीं पडा । घर की बुढिया इसके लिए बजनाथ पाँडे को बराबर गव से कोसती रही, कि उसने जरा भी टेढ़ी-मेढ़ी बात न कर खरे सच के पीछे एक अच्छी जमींदारी हाथ से खो दी । चुनार मे बजनाथ पाँडे की जजमानी थोडी ही थी । सिर्फ जलालपुर माफी गाँव में जमीन भी चन्द बीघे थी जो—और कुछ नहीं तो—साल का खाने भर अनाज और पशुओं के लिए भुस पर्याप्त दे सकती थी । बस इतने में ही बजनाथ पाँडे अपने कुनबे का खर्च अपने दायरे में मजे में चला लेते थे—यहाँ तक मजे में कि सारी जिन्दगी बिहारीसाहु के मन्दिर में वेतन-

वैतीस भोगी पुजारी रहे, पर वेतन लिया कभी नहीं—और मर

भी गए। बजनाथ पांडे संस्कृत के साधारण जानकार, जजमानी विद्या निपुण, साथ ही गीता के परम भक्त, शव परिवार में पैदा होकर भी वैष्णव प्रभाव भाव सम्पन्न थे। कहते हैं बजनाथ पांडे सम्यक चरित्रवान्, सुदर्शन और सत्यवादी थे। कहते हैं वह चालीस वय ही की उम्र में बैकुण्ठ बिहारी के प्यारे हो गए थे। कहते हैं इतनी ही उम्र में वह बारह बच्चों के जनक बन चुके थे। मेरे कहने का मतलब यह कि बजनाथ पांडे अच्छे तो थे—बहुत—लेकिन अन-बलेंस्ड भी कम नहीं थे। सो उन्हें क्षय रोग हुआ, जिससे असमय में ही उनके जीवन-स्रोत का क्षय हो गया। कहते हैं क्षय में बकरे की सन्निकटता, बकरी का दूध, उसी के मांस का स्वरस बहुत लाभदायक होते हैं। हमारा परिवार शाक्त, हम छिपकर मांसादि ग्रहण करने वाले, फिर भी बजनाथ पांडे ने प्राणों के लिए अवैष्णवी उपाय अपनाना अस्वीकृत कर दिया। अपने पिता की एक झलक-मात्र मेरी आंखों में है। मन्दिर से आकर ब्राह्मण-वेश में किसी ने मेरे मुंह में एक आचमनी गंगाजल डाल दिया, जिसमें बताशे घुले हुए थे। मैं मां की गोद में था। उसने बतलाया, चरणामृत है बेटे! कितना मीठा! मैंने अपने पिता को बुरी तरह बीमार देखा, घर में चारों ओर निराशा! पिता का मरना, भाई का पछाड़ खा-खाकर रोना मुझे मजे में याद है। यद्यपि तब मैं बहुत छोटा रोगीला, बेदम-जैसा बालक था। जब मेरे पिता का देहान्त हुआ मैं महज दो साल और छः महीनों का था। यानी मैंने जब जरा ही आंखें खोलकर दुनिया को देखा तो मेरा कोई सरपरस्त नहीं! प्रायः जन्मजात अनाथ—ऐसा—जिस पर किसी का भी वरदहस्त नहीं रहा। पिता भाई

बहन मिलाकर हम चार जने, भाभी और माता को अनाथ कर दिवंगत हुए थे। बहन बड़ी और ब्याहता थी, फिर भी घर मे खाने को थे आधा दर्जन मुख और कमाने वाला हाथ एक भी नहीं था। खेतीबाड़ी इतनी ही थी कि कर्त्ता ही उससे जीवन-यापन कर सकता था। इधर मेरे दोनो भाई रामलीला करने पर आमादा थे। कलिकाल विकराल आ रहा था—भागा भागा, सनातन धर्म, कर्मकाण्ड, वर्ण व्यवस्था, सारे-का-सारा मण्डल जा रहा था भागा भागा। धर्म का लोप हो रहा था। परिवार टूट रहा था। अर्थ-टका युग का उदय हो रहा था। जब पिता का देहान्त हुआ मेरा बड़ा भाई बाईस वर्ष का रहा होगा। उसका विवाह हो चुका था। मेरी भाभी घर पर ही थीं। मझला भाई सोलह-सत्रह साल का रहा होगा, जो पिता-मरण के कुछ ही दिन के अन्दर बड़े भाई और भाभी से लड़कर घर से अयोध्या भाग गया और साधु बनकर रामलीला-मडलियों मे अभिनय करने लगा था। तब मैं चार साल का था। सारे तन मे पेट परम प्रधान। मेरे देह मे वह रोग था जिसमे आयुर्वेदीय चिकित्सक लोह की भस्म या मडूर खिलाते हैं। मेरी ताई के मरे और जीवित अनेक बच्चे थे, पर चाची के एक कन्या के अलावा कोई भी जीवित न था। सो, उनके मन मे पुत्र का मोह था। दोनो घरों मे सबसे छोटा बालक मैं ही था। चाची मेरी ताई से तो मत्सर भगड़ती थीं, लेकिन मुझे उनका वात्सल्य प्राप्त था। पाते ही प्यार से, पुचकार से वह मुझे कुछ-न कुछ खाने को देतीं। लेकिन इसका पता लगते ही मेरी ताई धरिणी पर बैठ पसारे हुए पावों पर मुझे पट लिटा, देवरानी को दिखा दिखा, सुना-सुनाकर धमार की धुन मे धमकती थीं। एक तो

ब्राह्मण क्रोधी होता ही है, दूसरे हम परम क्रोधी कौशिक यानी विश्वामित्र के गोत्र वाले, तीसरे मेरी आई अनायास ही भयानक क्रोध करने वाली थीं। मैं सोलह साल का हो गया था तब भी वह मुझे मारने को ललकती थीं। एक बार तो अनेक झाड़ू उन्होंने मुझ पर झाड़ भी डाले थे। मझले भाई श्रीचरण पांडे तो क्रोधी नहीं थे, लेकिन उमाचरण और बेचन अपने अपने समय पर परम क्रोधी व्यक्ति बने। हम सबमें माता के स्वभाव का प्रभाव खासा था। लेकिन क्रोध माता करे या पिता, पति करे या पत्नी, बालक करे या युवा, होता है—पाप का मूल। 'जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं विश्व प्रतिकूल'। सो, माता के क्रोध का कुफल माता को मिला, भ्राता के क्रोध का भ्राता को। खुद बेचन पांडे को क्रोध का कुफल जो मिला उसे मैं ही जानता हूं और अच्छा करता हूं कि डायरी नहीं लिखता, वरना दुनिया जानती। अपने बारे में दुनिया को क्या जनाना चाहिए क्या नहीं, इसी का नुस्खा 'विनय' में गोस्वामीजी ने खूब बतलाया है। 'किये सहित सनेह जे अघ, हृदय राखे चोरि, संग बस किये शुभ, सुनाये सकल लोक निहोरि।' यानी परम प्रेम पूर्वक किये हुए प्रचण्ड पापों को तो हृदय की अंध कोठरी में छिपा रखना, लेकिन किसी दूसरे के संग में होने के कारण भी कोई भला काम बन पड़ा हो तो उसका ढोल मूसलों पीटना। चार सौ वर्ष पूर्व ही जैसे महाकवि ने बीसवीं सदी के उत्तर का खाका खींचकर रख दिया हो। मेरी आई परम क्रोधिनी थीं, साथ ही परम भोली। जब भी उन्होंने किसी बेटे को रुपया भुनाने को दिया होगा बेटे ने साढ़े पन्द्रह आने ही लौटाए होंगे। इस पर दूसरे बेटे ने कहा होगा—मां, बड़े ने

पसे ग़लत तो नहीं गिने ? ला तो, फिर से गिन दू । और फिर से गिनने मे वह साढे पन्द्रह आने की जगह पन्द्रह आने ही को सोलह बतला माँ को दे देता । और वह रख लेतीं । वह परिश्रमी भी जबरदस्त थीं । हमारे लम्बे चौडे दरिद्र कच्चे घर को होली दिवाली पर वह अकेले ही कछाड बाँधकर पोतनी या पीली मिट्टी से दिव्य कर देती थीं । फटे पुराने कपडों की कथा बहुत अच्छी तो नहीं, फिर भी ऐसी सी देती थीं जिसे सरदी के दिनों में वरदान की तरह लोग ओढ़ते बिछाते थे । कागज गला पल्प बना उसकी भद्दी डोकरियाँ बना लेती थीं । सीक के पत्ते तो खासे बना लेती थीं । ब्याह-गौना, कथा वगरह में सामयिक गीत गानेवालियों में वह आगे ही रहना चाहती थीं । मेरा भाई जब परदेश होता और घर में भूनी भाँग भी न होती, तब आई मुहल्ले-टोले से मन-आध मन गेहूँ ले आतीं, एक निहायत करुण गीत गाती-गाती मेरी तरुणी भाभी के साथ उसे पीसतीं । तब कुछ पसे मिलते, तब हमारे घर चूल्हा चेतता, मुँह निवाले लगते । मैं खुश हो चहकने लगता और आई कहावत सुनाकर खुश हो जातीं—'पेट में पड़ा चारा, तो नाचे लगा बेचारा ।'

चुनार

रामचन्द्र भगवान् सरयू नदी के किनारे पैदा हुए थे, मैं पैदा हुआ गंगा सुरसरि के किनारे। मुझे सरयू उतनी अच्छी नहीं लगतीं जितनी नर, नाग, विबुध बन्दनी गंगा। रामचन्द्र भगवान् अयोध्या नगरी में पैदा हुए थे, जो पवित्र तीर्थ मानी जाती है। मैं चुनार में पैदा हुआ, जो काशी के कलेजे और गंगातट पर होकर भी त्रिशंकु की छाया में होने से तीर्थ नहीं है। इतना ही नहीं, तीर्थ का पुण्य हरण करने वाला भी है। फिर भी, चुनार मुझे तीर्थ और अयोध्या और साकेत से भी अधिक प्रिय है। यह अपनी जन्म भूमि चुनार के बारे में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की राय है। अपनी जन्मभूमि अयोध्या के बारे में रामचन्द्र भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम की राय थी—'पावन पुरी रुचिर यह देसा, जद्यपि सब बैकुंठ बखाना, वेद पुरान विदित जग जाना। अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोउ।' फिर मैं क्यों न कहूँ कि मुझे चुनार जितना प्रिय है उतनी अयोध्या नहीं? राम भजिये अपने राम को अपने राम जितने पसन्द हैं उतने मर्यादा पुरुषोत्तम राम यानी रघुपति राघव राजाराम भी नहीं।

वाजि, रथ, कुञ्जरों वाले महाराज दशरथ के काल में अयोध्या कुछ और ही थी—अमरावती से भी बढ़ी चढ़ी नगरी। उसका वर्णन वाल्मीकि रामायण में पढ़िए और वर्तमान अयोध्या को जाकर देखिए। वैसे ही जैसे मेरे लक्कड़दादे ने घी खाया, मेरे हाथ सूँघिए। न कहीं

साकेत, न कहीं स्वर्ग। चतुर्दिक सघन रज तमस तक। मुझे तो सरयू भी मटमैली, रजस्वला, नजर आती है।

कुजा अयोध्या, कुजा चुनार। अयोध्या तीर्थ, चुनार तीर्थ-तेज को नष्ट करने वाला। अयोध्या में सम्राट, चक्रवर्ती, अवतारी लीलाधारी लाख हुए हों, लेकिन वह पुरी प्रकृति की उस प्रफुल्ल कृपा, वरदान से बिलकुल विरहित है जो चुनार को अनायास ही प्राप्त है। आप जाइए अयोध्या, भाग आयेंगे भाग मनाते। आप आइए चुनार, क्या मजाल कि घंटे भर के लिए पधार-कर कई दिन न ठहर जाएँ।

अयोध्या में कभी हरिश्चन्द्र भ्रज थे, सो अब नहीं रहे। दिलीप थे, रघु थे, भगीरथ थे, सो भी नहीं रहे, इक्ष्वाकु, दशरथ, रामचन्द्र कोई नहीं रहे। एक सरयू है मटमली फली, अपने भूत की छाया से भीषण बाधित। असल में अयोध्या आदमी के बनाये बनी हुई थी, भले वे आदमी राम-जसे शक्तिमान क्यों न रहे हों। वसे आदमी नहीं रहे तो अयोध्या राड हो गई। चुनार में आदमी रहें या न रहें, उसे प्रकृति-दत्त शोभा सुलभ है। आदमी आएँगे, आदमी जाएँगे, लेकिन आदमी क्या कोई भी जीव जब चुनार के आगे आएगा तो वह वहाँ कुछ दिन तक बसना, रमना चाहेगा। एक तरफ गंगा भागीरथी, एक तरफ जरगो विन्ध्य-बालिका, चुनार दोआबा। फकड फेंकिए तो विन्ध्याचल प्रचण्ड पहाड के आँगन में गिरे। चुनार विन्ध्याचल का आँगन ही तो है। मीठे जीवनप्रद कुएँ, निर्मल नीरपूर्ण तालाब, बावलियाँ, बाग, उपवन, वन, सहस्र-सहस्र वर्षों के इतिहासों के चरण चिह्न चुनार में चतुर्दिक। रामचन्द्र की अयोध्या में इनमें से एक भी नहीं, बस राम का नाम है।

चुनार से सटी विन्ध्याचल की सुखद घाटियों मे पारिजात के, पलाश के, बहेडे के, महुवे के वन के वन। जब शरद ऋतु मे सारी घाटी पारिजात पुष्पों की सुखद सुगन्ध से भर जाती है, लगता है, यही तो नन्दन वन है। चुनार इतना रमणीक कि पहले सारे भारत से जो श्रद्धालु तपस्या करने के लिए काशी या प्रयाग पधारते थे, वे तत्वत तपते थे चुनार या मिर्जापुर विन्ध्याचल की उपत्य काओं ही मे। कहते हैं किशोर राम ने ताडका और सुबाहु को चुनार के निकट ही कहीं मारा था। क्रान्तिकारी महर्षि वैज्ञानिक विश्वामित्र का सिद्धाश्रम चुनार के निकट ही है। मेरा खयाल है अयोध्या के आस-पास चुनार जैसा कोई महामनोरम स्थान नहीं था—राम के जमाने मे भी। तभी ऋषि विश्वामित्र राजा दशरथ से आग्रह करके राम और लक्ष्मण को चुनार दिखलाने को ले गए थे। राम चुनार न गये होते तो शायद ही राम होते क्योंकि विश्वामित्र ने चुनार ही के आस पास उन्हें वे विद्याएँ दी थीं—शस्त्रास्त्रों के प्रयोग की शिक्षा जो सारे जीवन रघुनन्दन के काम आती रहीं। क्या है राम की अयोध्या मे? पुरी कहलाती है बडी। अयोध्या मे मंदिर हैं, मूर्तिया हैं। यानी पत्थर हैं अयोध्या मे। मैं कहता हूं सारी अयोध्या मे जितने गढ़े-गढ़ मन्दिर-मूर्तिया हैं, उतनी और ऊपर से उतनी ही और चरणाद्रि (चुनार) की अनगढ़ पार्वतीय विभूति के बाएँ चरण की सबसे छोटी अगुली के नाखून से निकाली जा सकती हैं।

आपने अयोध्या देखी है? नहीं? और चुनार? वह भी नहीं? बन्दा तो चुनार ही की मिट्टी है एक ओर, तथा दूसरी ओर किशोरावस्था मे, साधुओं की रामलीला मडली मे जानकी बनकर सावन के झूलनोत्सव मे

अयोध्याजी में भूला भी भूल चुका है। सो, ऊपर चुनार के साथ अयोध्या का नाम फोकट-फीके नहीं लिया गया है। त्रेता में जिस अयोध्या में राम बाम दिसि जानकी विराजा करती थी, कलिकाल में उसी अयोध्या में, राम-लीला में ही सही, कुछ दिना बेचन पाडे भी सीताजी बना करते थे। और हजार हजार लोग-लुगाइयां, हजार हजार मेरे किशोर सुकुमार चरणों की धूल आंखों में आंजा करती थीं। सो, जिसकी अपनी जोरू जिन्दगी भर नहीं रही, वह जिन्दगी के आरम्भिक वर्षों में ही राम की जोरू बन चुका था। मानो यह जो आज बड़े तीसमारखां बजते हैं पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' दरअसल जोरू हैं राम की। मगर क्या होंगे! राम की जोरू थे कबीरदासजी

बालम! आओ, हमारे गेह रे!
तुम बिनु दुखिया देह रे!
सब कोई कहे तुम्हारी नारी!
मोहि होत सन्देह रे!
एकमेक ह्वै सेज न सोहे
तब लगि कसो नेह रे?

है कोई ऐसा पर-उपकारी
प्रिय सों कहे सुनाय रे!
अब तो बेहाल 'कबीर' भये हैं
बिनु देखे जिय जाय रे!
बालम, आओ हमारे गेह रे!

अयोध्या (जिससे युद्ध न किया जा सके—अजेय) का वर्णन करते हुए आदि कवि ने बतलाया है कि उस वर-नगरी के सभी निवासी धर्मात्मा, बहुश्रुत, अपने-अपने धन से सन्तुष्ट, अ-लालची और सत्य-वक्ता थे। उस नगरी में साधारण विभूति वाला कोई भी नहीं था, कम

दस्तानीग

परिवार कुटुम्ब वाला कोई नहीं था, ऐसा कोई नहीं था जिसकी मनोकामनाएँ पूरण न हो चुकी हों या जिसके पास गाय, घोडे, धन धान्य का अभाव हो। उस पुरी मे कामी, कापुरुष, क्रूर, कुबुद्धि और नास्तिक चिराग लिये ढूढने पर भी दिखायी नहीं देते थे। वहा कोई भी नहस कुण्डल, मुकुट और माला बगर नहीं दीखता था उस नगरी मे असत्यवादी, अविश्वासी और अबहुश्रुत आदमी एक भी नहीं था। न कोई गरीब था, न विक्षिप्त, कोई किसी प्रकार से भी दुखी नहीं था। अयोध्या के चारों ओर आठ कोस तक एक से एक हाथी ही-हाथी नजर आते थे। अतएव उसके नाम का अर्थ होता था—अजेय। इक्ष्वाकुवशी चक्रवर्ती सम्राट दशरथ की अयोध्या का यह वरणन आदि कवि के शब्दो मे है—बालकाण्ड मे। अयोध्या काण्ड के आरम्भ मे, रामचद्र के युवराजतिलकोत्सव की तय्यारी के सिलसिले मे भी, महाकवि ने अयोध्या की महत्ता का वरणन गौरवशाली किया है जब पुर वासियो ने सुना कि आज ही रामचद्र का अभिषेक होने वाला है तो सब लोग अपना अपना घर सजाने लगे। धवल मेघ के शिखर की तरह शुभ्र देवालयो, चौराहो, मार्गों, बागीचा अटारिया, विविध वस्तु भरे बाजारों, परिवार भरे भवनो, सभी सभा भवनो तथा ऊचे ऊँचे वृक्षों पर सचिह्न और अचिह्न पताकाएँ फहरायी गई

राज-मार्ग मे जहा-तहां फूल-मालाए सजायी गई थीं और सुगंधित धूप जलायी गई थी। रात्रि के समय रोशनी के लिए गली कूचों तक मे दीपको के वृक्ष जगमगाए गए थे इन्द्र की अमरावती पुरी के समान सुन्दर अयोध्यापुरी एकत्रित जन-समुदाय से मुख रित होकर जल-जन्तुओं से पूर्ण समुद्र के जल-जसी जान

पडने लगी मन्थरा ने देखा, चारों ओर अमूल्य ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही हैं, रास्ते साफ-सुथरे हैं चन्दन का छिड़काव चारों तरफ हुआ है, स्नान के बाद चन्दनादि लगाए अवधवासी परम प्रसन्न गश्त कर रहे हैं। ब्राह्मण हाथ मे माला और मोदक लिये मन्त्रोच्चार कर रहे हैं, सारे के सारे देव-स्थान चूने से उज्ज्वल कर दिये गए हैं। साथ ही सभी तरह के गाजे-बाजे बज रहे थे हाथी घोड़े हैं, गाय-बैल भी प्रसन्न बोल बोल रहे हैं। प्रमुदित पुरवासी ऊँची ध्वजाएँ फहराते दौड़ रहे हैं।

इतने बड़े उद्धरण का अभिप्राय यह है कि महाकवि ने पुल्प रचित जिस अयोध्या का वर्णन किया है वह वस्तुत आज नहीं, त्रेता युग की है। फिर भी, उसकी सफाई, रोशनी, छिड़काव, जनता को तरह-तरह से सुख पहुँचाने का सक्रिय निश्चय आज के कलकत्ता-बम्बई ही नहीं लन्दन-न्यूयार्क के म्यूनिसिपल कार्पोरेशनों के आगे आज भी प्रसन्न चुनौती-जैसा है।

अब मेरे चुनार का अहवाल सुनिए। त्रेता नहीं, द्वापर भी नहीं, चुनार की कहानी कलियुग की है। सन् १९०५ ई० म चुनार मैंने कैसा पाया था, (तब मैं महज पाच वर्ष का था) उसका वर्णन भी आज पचपन वर्ष बाद कम मनोरजक नहीं है। तब वह छोटी-सी बस्ती पाँच-सात हजार प्राणियों की रही होगी। चुनार मे चरण की आकृति की एक पहाड़ी है, जिसका तीन भाग गगा मे है और चौथा धरती की तरफ। इस पहाड़ी के कारण चुनार का नाम 'चरणाद्रि' भी सस्कृतज्ञों से सुना था। इसी पहाड़ पर एक परम प्राचीन दुर्ग है। उसका सम्बन्ध द्वापर युग के प्रसिद्ध सम्राट् जरासन्ध से जोड़ा

जाता है। किले मे एक विकराल तहखाना है—बडे विस्तार अपार अन्धकार वाला। कहते हैं जरासन्ध ने पराजित करने के बाद सोलह हजार राजाओ की रानिया छीन उन्हें चुनार दुर्ग के तहखानो मे बन्द कर रखा था। फिर, कहते हैं, उज्जयिनी के सम्राट विक्रमादित्य ने अपने राजा भाई भर्तृहरि के लिए इस दुर्ग का पुनरुद्धार कराया था। किले मे योगिराज भर्तृहरि की समाधि है। किले के बाहर, दक्षिण तरफ, पहाडी मे गगा-तरग जल सीकर शीतलानिल के निकट एक गुहा है। कहते हैं राजर्षि भर्तृहरि उसी मे तप स्वाध्याय निरत रहते थे। विश्वासी लोग आज भी भर्तृहरि की आत्मा का आवास चुनारगढ के आस पास मानते हैं। इस दुर्ग का इतिहास सर्वथा कौतूहल एव रहस्यमय है। आल्हा ऊदल नाम के वीर बहादुर दोनो भाइयो का कभी इस किले पर कब्जा था—विदित बात है। वीर रस के विख्यात हिन्दी-काव्य आल्हा रामायण मे इन्हीं भाइयो के शौर्य की गाथा है। इस किले से सम्राट हुमायू, शेरशाह सूरी, वारेन हेस्टिंग्स विद्रोही राजा चेतसिंह, पजाब की महारानी जिन्दा वाजिद अली शाह का भी सम्बन्ध रहा है। गत द्वितीय महायुद्ध के युद्ध-बन्दियो को ब्रिटिश सरकार इसी किले मे रखती थी। सन् ४२ के भारतीय महाजागरण के राष्ट्रीय कर्मी भी इसी किले मे बन्द रखे गए थे। फिर स्वराज्य होने के बाद बगाल के पुरुषार्थी चुनार गढ मे बसाये गए थे। हिन्दी के आदि-उपन्यासकार बाबू देवकीनन्दन खत्री के परम प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सतति' एव 'भूतनाथ' मे इस किले का ऐसा महामोहक वर्णन है कि पढने वाले के

हाथ से उपन्यास छूटते नहीं। चुनार दुर्ग के बाहर, पूर्व तरफ, प्राय पाव कोस पर, एक आचार्य कूप है। कहते हैं, श्री वल्लभ महाप्रभु जब भारत भ्रमण को सपरिवार निकले थे तब, चुनार मे उनके पुत्र विट्ठल महाराज का अवतार हुआ था। कहते हैं श्री वल्लभाचार्य ने नव जात शिशु उसी कूप को सौंप दिया था कि तब तक वही उसका लालन पालन करे जब तक प्रभु देश भ्रमण से लौट नहीं आते। कहते हैं प्रभु वल्लभाचार्य कई वर्ष बाद जब लौटे तब उस कूप ने उनका पूत उन्हें सही-सलामत सौंप दिया, जो अब शिशु नहीं, कई वर्ष का किशोर था। चुनार वल्लभ सम्प्रदायियों के पुण्य तीर्थों मे है।

मुस्लिम जमाने मे चुनार के किले मे हजरत मुहम्मद की दाढ़ी का पवित्र बाल भी सादर सुरक्षित रहता था। चुनार के दर्शनीय स्थानों मे एक दरगाह भी है—मशहूर मुस्लिम वली हजरत कासिम सुलेमानी की। मेरे छुट-पन मे दरगाह का मेला हर साल जोरदार होता था, जिसमे बिना भेद भाव मुसलमान हिन्दू, शहराती-देहाती सभी शामिल होते थे। मेरे बचपन म चुनार की आबादी मे रुपये मे पाँच आने मुसलमान थे, जिनमे रईस, साहबे-फन और नवाबजादे भी थे।

उन दिनों किलों की कद्र थी अत चुनार मे अंग्रेज आये। जब मैं पाँच-सात साल का था तब चुनार के किले मे गोरा तोपखाना पलटन रहती थी। रहते थे शत-शत अंग्रेज सोल्जर्स और आते- जाते रहते थे। चुनार के किले के पीछे एक पुरानी कब्र गाह है जिसमे देखिए तो ब्रिटेन के अनेक स्थानों के प्राणी कब्र के दफनाये दम-ब खुद पड़े हैं। कब्रों पर

 उनके नाम-पते पढ़कर ताज्जुब होता है नियति के

विलास पर, जो इ ग्लण्ड की मिट्टी को चुनार मे दफनाने का विधान करती है। बहुत दिनो तक चुनार मे रिटायड गोरे सपरिवार रहा करते थे। 'लोग्रर लाइ"स' नामक अपनी एक बस्ती उन्होने वालो के कस्बे की पिछली सीमा पर बसा रखी थी। साथ ही, गगा तट के निकट बडे बडे पाक बँगले बनवाकर उनमे समथ अग्रेज अधिकारी या उनके गोरे सम्बन्धी रहा करते थे। ये बँगले नम्बरो से नामी थे, जसे बँगला न०१, न०८, न० २०। सन् १६०५ ई० मे चुनार की पाच सात हजार की आबादी के सिरहाने दो दो गिरजाघर थे। एक परेड ग्राउण्ड की कब्रगाह के पास जमन मिशनरियो का रोमन कथलिक चच और दूसरा प्रोटेस्टेण्ट चच शहर के बीच मे था। ईसाई या अग्रजो की सख्या शहर मे चाहे जितनी रही हो, पर उनका प्रभाव कितना था इसकी सूचना ये चच देते थे। मेरे स्वर्गीय पिता जिस मन्दिर मे पूजन किया करते थे उसके चबूतरे पर खडे होकर, पांच-सात की वय मे, मैंने गोरे सोल्जरों के तोपखाने की माच मजे मे देखी थी। किले से परेड ग्राउण्ड तक ये गोरे सिपाही माच करते हुए अक्सर जाया करते थे। मदान मे मिलिटरी बण्ड वालों की परेड तो मुझे आज भी भूली नहीं है। कई प्रकार के बाजे वाले सभी गोरे, ड्रम—ओह! कितना बडा! इन बण्ड वाले सिपाहियों के बीच मे बाघम्बर धारण किये हाथ मे गदा-जसी कोई वस्तु हिलाता चलता था एक नाटा, गुटठल-सचमुच व्याघ्रमुख कोई दत्य-देही गोरा! तब चुनार वालों को ये गोरे महाकाल के दामाद दसवें ग्रह-जसे लगते थे। अक्सर लोग इनकी छाया से भी दूर भागते थे। लोग्रर लाइ"स से गुजरने वाले गरीब ग्रामीणों या चुनारियों को ये रिटायड या सिपाही गोरे कारण

अकारण वेंतो से बुरी तरह सिटोह दिया करते थे। औरतें तो लोअर लाइंस मे जाने की हिमाकत कर ही नहीं सकती थीं। जरगो नदी पार से शहर को विविध वस्तु बेचने आने वाली अहीरिनो, कोरिनो, चमारिनो, को अवसर, उन्मत्त गोरे दौडा लेते थे, रगड सगड देते थे पशुरत—रेप! सो, क्रिश्चियनों के मुहल्ले से कोई भी देसी स्त्री गुजरने की हिम्मत नहीं करती थी। इस राह के बराबर, दूर के रास्ते, देर के रास्ते से बाजार पहुचती थीं। उन दिनो नित्य ही सददूपुर मुहल्ले की वभनटोली गली से सोल्जर्स, एंग्लो इण्डियन गोरा-काला पादरी, और वह घोडी सवार मेम विधवा मिसेज विल्सन गुजरती थी। भयभीत कौतूहल से मुहल्ले के हम अधनगे बच्चे 'साहब, सलाम!' और 'मेम साहब, सलाम!' किया करते थे। मेम साहब घोडी की एक तरफ बठी, रोज ही बाजार लेने स्वय जाती थीं। वह घोडी पर चढी ही चढी सारी चीजें खरीदती थीं। मछली, मुर्गी, मास, तीतर-बटेर, साग सब्जी, ऋतु-फलो का उन दिनों चुनार मे ढेर-ही-ढेर लगा रहता था। तब घी रुपया सेर विकता था। लेकिन घी खाने योग्य पसे तब अपनी गिरह मे थे ही नहीं। घी जब इतना सस्ता था तो अनाज भी तो भूसा भाव रहा होगा। अनाज, गुड, खांड, चीनी, सभी पानी के मोल थे, फिर भी, अपने लिए दुलभ थे। 'सुरसरि, तीर बिनु नीर दुख पाइहै, सुर-तरु तरे तोहि दारिद सताइहै'—तुलसी बाबा वाली बात हमारे सामने थी। दारिद्रय मे कष्ट होता है यह जानने लायक तो मैं हो गया था, पर, दारिद्रय मे अपमान भी कुछ है, मुझे मुतलक पता नहीं था।

सहानीम चुनार की एक कथा तो मैं भूल ही गया। उन दिना

बगाल या काशी से एक से एक भद्र बगाली परिवार दो चार महीने रहकर स्वास्थ्य-लाभ के लिए अक्सर चुनार आते थे। अनेक बगाली जन तो यत्र तत्र बँगला या घर बनाकर बस भी गए थे। साल मे कम से-कम आठ महीने ये बगाली चुनार के हर खाली मकान मे किरायेदार बनकर टिकते, जिससे कतिपय लोगो को कुछ आमदनी भी हो जाती थी। चुनार मे अक्सर बगाली सन्यासी या दार्शनिक सानन्द रहा करते थे। उनका वहा की जनता पर प्रेमपूर्ण प्रभाव था। एक दो बगाली बाबुओ का एलोपथी दवाखाना भी था। एक-दो बगाली महाशय प्रोफेशनल न होने पर भी होमयोपथी या आयुर्वेद के अच्छे अभ्यासी थे, जो लोगो का प्रेम से इलाज करने मे सुख पाते थे। मगर मुझे बगाली बन्धु उतने याद नहीं आते, जितने भयकर प्रचण्ड प्रताप वाले गोरे और उनके अनेक रिटायर्ड परिवारो। वह आयरिश बूढा मिस्टर बलाय जो देहाती मजूरो से अच्छी हिन्दी बोलता था और बागबानी तथा खेती कराता था। चोते सी आखें, हनूमान-सा मुखडा। क्सी हिन्दी बोलता वह कि मनो रजक! और मिस्टर कूम जो लोअर लाइन्स का जनरल मर्चेंट था। वे चीजें जो कलकत्ता-बम्बई-बनारस इलाहाबाद ही मे मिल सकती थीं मिस्टर कूम के स्टोस मे भी होती थीं। मिस्टर कूम रिटायर्ड सेना अधिकारी थे। उनका बडा भारी बँगला लोअर लाइन्स के नाके ही पर था। मिस्टर कूम कुत्तों के बडे शौकीन थे और जब घूमने निकलते थे तो उनके साथ चार छ किस्म के कुत्ते जरूर होते थे। कूम साहब अक्सर हाथ में गेंद लेकर निकलते। गेंद वह दूर सुदूर भरपूर जोर से फेंकते कि कुत्ता ले आए और कुत्ता गेंद ले

आता साहब । और हम अधनंगे छोकरे हैरत से हैरान रह जाते 'साहब, सलाम !' ब्रूम साहब के स्टोर्स में एक-से एक शराबें मिलती थीं । उनके बँगले में गोरों के लिए एमर्जेंसी होटल-जैसा था । मिस्टर ओब्रायन नामक एक बूढ़े हृष्टपुष्ट गोरे सिपाही की याद आती है जो नेवीकट दाढ़ी रखता था । चुनार नोटिफाइड एरिया का वह सुपरिटेण्डेण्ट था । नगर की सफाई वगैरह उसी के चार्ज में थी । उसका एक हाथ बिलकुल कट गया था । कोट की दाहिनी आस्तीन यों ही लटकती रहा करती थी । वह बाएँ हाथ में बेंत लेकर मिलिटरी फुरती से चलता था । किसी भी काले आदमी को गली में बैठकर लघु-शंका वगैरह करते देखते ही दे बेंत दे बेंत ! मिटोहकर घर देता । फिर रिपोर्ट, ऊपर से जुर्माने होते थे । मेरी गली के चिगन तेली पर मिस्टर ओब्रायन का बेंत कई बार बरसा था, क्योंकि चिगन तेली सरे राह बैठकर पेशाब करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता था । इस तीखे अंग्रेज को देखकर मेरे तो होश फाख्ता हो जाते थे । मैं उससे कम-से-कम बीस गज दूर रहने की कोशिश करता था। चिट्टा गोरा बिलाड जैसे सूट पहन ले । दाहिना हाथ टूटा । बाएँ में चमड़ा-मढ़ा बेंत । तेज, चालाक चाल । सपने में जैसे प्रेत ! 'टुटवा साहब' हम उसे सभय पुकारते थे । अपने लिए टुटवा साहब-जैसा हेय प्रयोग सुनते ही कहने वाले को, चाहे वह बूढ़ा हो, जवान या बालक, बिना पकड़े, बिना पीटे, बे-सताये वह छोड़ता नहीं था ।

घोड़ी पर सवार गली से बाजार गुजरने वाली यूरोपियन विधवा मिसेज विल्सन का नाम आगे आ चुका है । एक दिन की बात है, मेरे चाचा छत पर बने पूजा-

दाचाग

घर में ठाकुर की सेवा के सिलसिले में पूजा पात्र वगरह धो रहे थे कि मिसेज विल्सन अपनी घोडी पर छत के निकट से गुज़री। दुर्भाग्य से उसी समय ऊपर से गन्दे पानी की धारा यूरोपियन महिला पर बरस पडी। फिर क्या था! मेम साहब मेरे चचा पर बेहद गरजा, बरसीं—ब्लडी, डम फूल तक आइ। चचा से बरदाश्त नहीं हुआ। वह स्वाभिमानी और अच्छे वद्य थे। चुनार में उनका आदर मान था। मेम साहब को डाट के स्वर में उन्होने कहा—ख़बरदार, जो बदज़बानी की! इस पर मेम साहब बकबकाती चलती बनी। लेकिन दो ही घटे क भीतर चचा साहब को पुलिस थाने में हाज़िरी देकर विलायती मेम के दबदबे से दबना पडा था। बीसवीं सदी के आरम्भ में गोरी सेना, रिटायड अग्रेज और ईसाइयो के सबब वज्र ग्रामीण चुनार का एक भाग बम्बई और कलकत्ते के किसी स्वच्छ भाग की तरह तत्कालीन आधुनिकता से मडित था। नोटिफाइड एरिया की ओर से सारे चुनार में अगर दो सौ लम्प पोस्ट खडे किये गए होंगे तो उनमें से सौ से ऊपर केवल लोअर लाइन्स में लगाये गए होंगे जहा गोरे बसते थे। छोटी बस्ती, सुथरी सडकें शान्ति-युक्त निवास की तरह छोटे छोटे हरे भरे बगले, वज़नी और हलके-फुलके फरनीचर, फानदार परदे, दरिया, गलीचे, अच्छी तरह पहन खा पीकर लोआपोआ गोरे बच्चे। गुडिया की बीवियों-जसे हाथीदात के बने यूरोपियन बालक। गुलेल, तमचे, बन्दूकें, रकट, बट, फुटबाल, रिंक। कसे-कसे कुत्ते! पॉइन्ट डाग फाक्स टेरियर अल्सेशियन बुलडाग। कुत्तों की रखवाली पर नियुक्त नौकर—चमार, भगी मेहतर—जिनके तन पर ऐसे साफ कपडे जसे हमारी बभनटोली में एक क भी

नहीं। मेरी स्थिति तो कुछ पूछिए ही मत। सिवाय मली, मारकीनी, मुफ्त मिली धोती और एकमात्र कुरते के बदे के सिर पर तो दो पैसे वाली दुपलिया भी मुहाल थी। न ही चरणा में चमरौधा ही। पर उक्त स्थिति शिकायतजनक आज मालूम पड सकती है। उन दिनों तो घनघोर अभावों में भी मैं दुखी था, ऐसी बात नहीं। बल्कि सुखी ही था। बचपन और यौवन शायद स्वयं में इतने भरपूर होते हैं कि उस आलम में अभाव भी भावो भरे भासते हैं। असल में अज्ञान में बडी गुंजायश होती है। मेरा ज्ञान मेरे गले पडा—लिखा कवि 'देव' ने—"याहि ते मैं हरि ज्ञान गँवायो"। गाया गोस्वामी तुलसीदास ने—(यह ज्ञान) "परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं बाहर फिरत विकल भयो धायो। ज्ञान सीमित होता है जब कि अज्ञान की (ईश्वर की तरह) कोई सीमा नहीं। समझिए तो, जीवन में जितना भी सुख है अज्ञान ही के सबब होता है। देखिए तो, जगत् में ज्यादातर जीवधारी अज्ञानी ही होते हैं। फिर इस ज्ञान की कोई गारण्टी नहीं कि कब अज्ञान न साबित हो जाए। विलोकिये आधुनिकतम विज्ञान की तरफ। कल तक पृथ्वी ध्रुवों की ओर नारंगी-जैसी चपटी मानी जाती थी, लेकिन अब पता चल रहा है कि विश्वगोलक का नक्शा कुछ और ही तौर का है। पृथ्वी सन्तरे-सी नहीं, सेब जैसी है। ज्ञान के गिरगिटपन के ऐसे-ऐसे शत-शत उदाहरण सहज ही पेश किये जा सकते हैं। जीवन में मात्र परेशान होने के लिए ज्ञान या जिज्ञासु, मेरे जाने, अपनी आँखें अज्ञान में खोलता है, मूदता है आखें अपनी अनन्त अनाम अज्ञान में।

नागा भागवतदास

यह सन् १९१० ई० है। और यह नगर ? इसका नाम है मिण्टगुमरी! मिण्टगुमरी ? यह नगर कहाँ है रे बाबा ! यह नगर इस समय पश्चिमी पाकिस्तान में है, लेकिन जब की बात लिखी जा रही है तब ब्रिटिश भारत में पजाब में था। और यह सब क्या है ? यह सब रामलीला की तयारी है। कई दिन से अयोध्याजी से कोई रामलीला मण्डली आयी हुई है। इस मण्डली ने पहले सरगोधा मण्डी में लीलाएं दिखलायी थीं, जिससे वहा की हिन्दी पजाबी सिख जनता बहुत ही धन्य हुई थी। सरगोधा मडी से इस रामलीला-मडली की प्रशसाएँ भक्त दर्शकों से सुनने के बाद मिण्टगुमरी के भक्त दर्शनार्थियों ने वहा जाकर सारी मडली के किराया भोजन भर रकम पेशगी देकर दस दिन में रामलीला दिखलाने के लिए उत्साह, श्रद्धा और आग्रह से अपने यहा आमन्त्रित किया था।

ये लीलाधारी जब स्टेशन पर उतरे तभी मिण्टगुमरी के दर्शनार्थियों की भीड-सी लग गई थी। कितना सामान ! दस बडे बडे काठ के बक्से, बीसियों लोहे के ट्रक। सबमें रामलीला की आवश्यक वस्तुएँ। लीला भूमि बनाने का बॉस बल्ली पटरे वगैरह सामान, समूह भोजन जिनमें सिद्ध हो सके ऐसे पीतल और ताँबे के बडे बडे बरतन भाड, टेण्ट छोलदारियां। अयोध्यावासी ये लीलाधारी सख्या में इतमाम और दस और एक—कुल मिलाकर सना

तीस थे। छत्तीस थे प्रौढ पुरुष, अधिकतर साधु-महात्माओं की ड्रेस में, दो-चार छल चिकनिया भी जो दूर ही से नाटकीय दीखते थे। दस थे दस से अठारह की वय के बालक और युवक। सारी जमात में मुश्की रंग का आठो गाँठ कुम्मत एक घोडा भी था। असल में नागा महन्त भागवतदास महाराज की यह जमात थी पजाब भ्रमण पर कटिबद्ध। जमात में विविध पदा के निशानधारी और बेनिशान नागा साधु थे। पजाबी माताएँ श्रद्धालु होती हैं, प्रदेश धन धान्य से परिपूर्ण है, यह सब मजे में जानकर ये साधु लीलाधारी उधर जाते थे और जाकर कभी पछताते नहीं थे। घोडा था महन्त भागवतदासजी का। दाढीधारी, छापा तिलकधारी, उजले वस्त्रधारी महन्तजी आखो पर चश्मा चढाए, हाथ में बेंत की छोटी चँवरी लिये जब उस घोडे पर सवारी करते थे, बडा चमत्कारी दृश्य उपस्थित हो जाता था। भागवतदास महन्त एक आख के काने थे। उन्हें बगड बरागी 'भागवतदास कानिया' कहकर मन्द माना करते थे, क्योंकि त्यागी-बैरागी होकर भी भागवतदास पसा-जोड थे, कौडी पकड। साधु-जमात और रामलीला-मडली की मूर्तियों की सम्यक् आर्थिक व्यवस्था महन्त भागवतदासजी के हाथों में थी। स्थान

बडी श्रद्धा से स्वरूपो तथा अन्य साधुम्रो के लिए दूध, दही, मक्खन, मट्ठा, लस्सी, गुड, बताशे लड्डू अन्न, वस्त्र, पुष्कल दे जाती थीं। सीता, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, वगरह बनने वाले बालको को मडली वाले अपनी भाषा में 'स्वरूप' या 'सरूप' कहा करते थे। शृगार के साथ हम स्वरूपो को भक्तों के हाथ से दूध पिलवाने या प्रेमियो के घर भोजन कराने के लिए महन्त भागवत दास पजावो भक्तो से मोटी रकमें उतारते थे। भक्त लोग अक्सर साधुम्रो की जमात का भडारा अपने घर करते, तब महन्त के दल के नागा लोग सूरत के बने जरी के काम के खूबसूरत निशान, पताका, भाला, तलवार, तुरही से लस बारात बनाकर भक्त के दरवाज पर जाते थे। बडी अभ्यर्थना, बडी पूजा, भक्त लोग इन साधुम्रो की करते थे। फिर पगत बठती थी, यानी जमात भोजन पाने बठती। माल, मलाई, मिठाइया मालपुए, तरह तरह की सब्जिया, जिन्हे साधु लोग साग नाम से भजते थे, परसी जातीं। फिर एक मुख्य साधु पगत में टहल टहलकर 'जय' बोलने बुलाने लगता। यानी वह बोलता नाम दूसरे बोलते 'जय!' चारो धाम की—जय! सातो समुद्र की—जय! सातो पुरिया की—जय! श्री हनुमानजी की—जय! श्री सुग्रीवजी की—जय! श्री अगदजी की—जय! यह जय-जय घोष कभी-कभी तो पूरे एक घटे तक होता, जिसमें महन्त के गुरु की तथा स्वय महन्त भागवतदास की जय भी पुकारी जाती थी। महन्तकी आज्ञा से जमात को सादर भोजन देने वाले भक्त के नाम की जय भी बुलवायी जाती। मालपुए ठडे हो जाते, मलाई पर मक्खी भिनकने लगती, बढिया से बढिया बना हुआ सालन भी इस घटे भर की जयबाजो में ठडा पड

चौबन

कर सचमुच साग बन जाता था। जय बोलते बोलते मारे थकावट और भूख के मुझे तो नींद आने लगती थी।

किसी एक दिन की बात। उस दिन धनुष-यज्ञ और लक्ष्मण परशुराम सवाद की लीला होने वाली थी। मडली वाले मेक अप रूम या ग्रीन रूम को शृगार घर कहते थे। 'शृगारी' होना था वहा का व्यवस्थापक, जिस के चाज मे वस्त्र, आभूषण, मुखौटे, दाढी, मूछें और मेक अप का आवश्यक सामान होता था। हम सरूपो के चेहरों पर मुर्दासख और लाल सिमरिंग के रग बाकायदे चढ़ाने के बाद गालो और माथे पर चमकती डाक और सितारों से, गोंद के सहारे वह शृगार करता—फूल या मछली बनाता। इस शृगार मे कम समय नहीं लगता था। फिर हमारे मस्तक पर ऊन के काकपक्ष या जुल्फें अलकदार लटकायी जातीं, कानो में कुण्डल और मस्तक पर मुकुट किरीट-चद्रिका कसकर बाधी जाती। फिर नीचे और ऊपर के वस्त्र पहनाए जाते। साधारण लडके को देवता की तरह सजाकर खडा कर देना शृगारी का काम था।

धनुष-यज्ञ में मेरे बडे भाई साहब दो दो काम किया करते थे। वह पहले तो राजा जनक के बदीजन बनकर आते थे और हिन्दी, अग्रेजी, बगला, फारसी वगैरा कई भाषाओं में जनकजी की प्रतिज्ञा बडे रोब से सुनाते थे। फिर, धनुष टूट जाने के बाद वह परशुरामजी बनकर आते थे, तुलसीदास के कथनानुसार रूपधर अरुन नयन, भृकुटी कुटिल गौर सरीर भूति भलि भ्राजा, भाल बिसाल त्रिपुण्ड बिराजा, सीस जटा सहजहु चितवत मनहु रिसाने। खुले विशाल कधे, एक कधे पर दिव्य जनेऊ और माला और मृगछाला। कमर में मुनियों के

वल्कल वस्त्र, कधो के पीछे दो-दो तूणीर-तकश, हाथ में धनुष और बाण तथा वाम कन्धे पर विख्यात परशु। पहले तो सहज ही वेश मे अपने भाई को देखते ही मेरी रूह फना होती थी, तिसपर परशुराम का मेक अप। प्राय उनके रग-मच पर आते ही मेरी सिट्टी गुम हो जाती थी और अच्छी तरह याद किया हुआ सवाद भी सफाचट भूल जाया करता था। या लक्ष्मण का सवाद धीरतापूर्वक न कर केवल घिघियाया करता था। पाट भूलते ही परशुराम वेशधारी मेरा भाई स्टेज ही पर मुझे धमकाता कि चल अन्दर, तेरा भुरकुस न कर दू तो मेरा नाम नहीं। और परदा गिरते ही शृगार मे ही परशुरामजी लक्ष्मणजी को पीटने लगते। परदे के पीछे वाले उस परशुराम से लक्ष्मण की रक्षा राम ही नहीं राम के बाप दशरथ भी नहीं कर सकते थे। धनुष-यज्ञ में बडे पेट वाले राजा का मजाकिया काम करने वाला एक्टर भी मेरा भाई ही था—मझला श्रीचरण पाडे जो साधु-कण्ठी धारी बनकर अब सियारामदास हो गया था। जहा तक एक्टिग का सम्बन्ध है, मेरा बडा भाई मझले से श्रेष्ठतर अदाकार था। लेकिन स्टेज पर प्रसिद्धि मझला ही विशेष पाता था, क्योकि उसे नाचना गाना, बजाना तथा जनता की चुटकिया लेना खासा आता था। 'नाचे गावे तोडे तान तिसका दुनिया राखे मान' कहावत उन दिनों काफी प्रचलित थी। घर में न सही परदेस —रामलीला-मण्डलियां—में हम तीनो भाई साथ ही साथ रहे और काफी प्रेम से। घर में प्रेम इसलिए नहीं था कि खाना नहीं था। जब 'भूखे भजन न होहि कहावत है तब भला भूखे प्रेम क्या होता! रामलीला मण्डली में, दोनों ही, अपनी अपनी स्वतन्त्र कमाई कर

लेते थे। ऊपर से बुनियादी राशन मण्डली के पचायती भडारे से मिल जाता था। बुनियादी राशन यानी साग दाल, चावल, बडी-बडी रोटिया दोपहर को तथा घुइया का साग और छोटी छोटी पूरिया रात के ब्यालू में। मेरे बडे भाई की तरह शौकीन एक्टर अपना खाना बिस्तर या आसन पर लेते, जो महन्त भागवतदास को बहुत बुरा लगता। वह चाहते कि जिसे भी भडारे में खाना हो पगत में बठकर जय बोलने के बाद प्रसाद पाए। जो पगत से चूके उसका भाग भडारे के प्रसाद में नहीं। कहावत मशहूर—डार का चूका बन्दर, पात का चूका बरागी। सो, जो एक्टर पगत में न शामिल होना चाहता वह अपना प्रबन्ध अलग करता। महन्त भागवतदास मेरे बडे भाई की क्रद्र करते थे, क्योकि वह उनका पत्र व्यवहार सुन्दर अक्षरों, उत्तम हिन्दी में कर देते थे। फिर भी, नागा कानिया महन्त से दहशत सभी खाते थे। वह क्रब में आने पर अच्छे अच्छो पर हाथ भाड देते थे। कोई भी एक्टर भागवतदास के सामन जाने में एक बार झिझकता था।

जमात के अधिकारिया में महन्तजी के अलावा एक 'कुठारी' जी थे, जिनके चाज में अन्न, घृत, बासन, बसनादि वस्तुएँ होती था। उन्हें 'अधिकारीजी' भी कहा जाता था। मण्डली में भागवतदास के बाद अधिकारीजी का ही मान था। वह साधुई क्ते से पहनी हुई लुगी और बगलबन्दी धारण करते थे, टाट के जूते पहनते थे, ऊर्ध्वपुण्ड सह-श्री माथे पर लगाते थे, जिसका फलाव उनकी नासिका तक होना था। वह बहुत अच्छे रामायण भक्त भी थे। शृगारी की तारीफ आप सुन ही चुके हैं। कुठारी, शृगारी के बाद भण्डारीजी

थे, जिनके हाथ में सारा भोजन भण्डारा होता था। भडारी अक्सर उसी नागा साधु को बनाया जाता था जिसमें, आवश्यकता पडने पर, सौ सवा सौ मूर्तियो के पाने (खाने) योग्य प्रसाद अकेले तयार करने की क्षमता होती थी। वमे साधारणत उसको सहायक साधु स्वय सेवक सुलभ रहा करत थे। मडली की हर मूर्ति का आवश्यक कतव्य माना जाता था भडारी की हर तरह से सहायता करना। साग अमनिया करना पुष्कल आटा गूधना इधन का लक्कड चीरना, जल जुटाना, और सबके ऊपर भोजन के बाद बडे-बडे कडे जले बरतन माजना—चमाचम! मजे वासना को कानियाँ भागवत दास आख पर सोन के प्रेम के चश्मे चढाकर देखते और जरा भी मलीनता या मल मिलते ही माजने वाले बरागी को चबरी-मढे बेंत मे मारत मारते आदमी से टट्टू बना देते थे—टुटरूँ टू। इन्हीं सब फजीहतो दिक्कतो मे बचने के लिए मेरे भाई-जसे शौकीन अपना खाना अलग बनाते थे। इसस इनको प्याज लहसुन वगरह की सुविधा भी मिल जाती थी, जो नागाओ के भडारे में असभव थी। एसे लोगो का जमात क विधान से स्वतन्त्र आचरण महन्त भागवतदास को भला नहीं लगता था फिर भी नान बरागियो को इतनी आजादी वह दे ही देते थे। महन्त भागवतदास हिम्मत वाले, जीवट वाले साधु महात्मा थे। तभी तो सन् १९१० ई० में सीमान्त प्रदेश के विख्यात शहर बन्नू में जाकर रामलीला दिखाने की जुरअत की उन्होंने। उन दिनो बन्नू तक रेल लाइन तयार नहीं हो पाई थी। मिटगुमरी से कोहाट पहुँच वहा से तांगों स शायद दो दिन की यात्रा के बाद मण्डली बन्नू पहुँची थी। तांगे दिन में चलते

श्रौर सायकाल किसी डेरा या 'खेल' पर विश्राम करते। निशानेबाज, खूख्वार सरहदी डाकुश्रो का बडा भय था। मुझे याद है बन्नू की राह की किसी सराय में घोडे की लीद-भरी कोठरी में सोना। मुझे मजे में याद है शौच के लिए पहाडियों में जाने पर किसी महाभयानक पठान को देखते ही बिना निपटे ही भाग श्राना। मुझे बतलाया गया था कि सरहदी बदमाश लडको को खास तौर पर पकड ले जाते हैं। बन्नू पहुंचने पर भी शहर देखने, घूमने फिरने, बडे लोग ही जा पाते थे। हम लडके तो उसी श्रहाते में बन्द रखे जाते जिसमें रात को फाटक बन्द कर, केवल सौ-दो सौ हिन्दुश्रो की उपस्थिति में रामलीला दिखायी जाती थी।

बन्नू के भक्तो से विदाई में दक्षिणा भारी मिलने वाली थी, इसलिए विशेषत महन्त भागवतदास पक्का पक्ष मडली लेकर वहां गये थे। लौटे भी श्रच्छी रकम बनाकर। रुपये, पशम, ऊन, काठ का सामान, चादी के पात्र, सोने के श्राभूषण।

बन्नू हम गये थे कोहाट की तरफ से, लौटे डेरा गाजीखा की तरफ से।

मेरे बडे भाइ-जसे हजरत छिपे छिपे फुसफुसाते कि महन्त बडुत विलासी है। इसका कारण यह था कि स्वय साढे चार बजे सवेरे स्नान करने के बाद महन्तजी उन लडको को भी उसी वक्त नहलवाते थे जो स्वरूप (राम-लक्ष्मण-सीता) बना करते थे। सरदी के दिनों स्नान के बाद शीत से कांपते उन किशोरो को प्राय नियम से महन्तजी श्रपने कोमल इटालियन कम्बल में बुला लिया करते थे—एक, दो, तीन को—श्रौर उनके गाल हथेलियो से रगड रगडकर गरमाया करते थे। मेरे मते यह

क्रोधी, कठोर स्वभावी महन्त का सहज निर्विकार कोमल पक्ष था। महन्त भागवतदास सिद्धान्त और लंगोट के सच्चे थे।

बन्नू में अनेक सरहदी सौगात संग्रह करने के कारण बड़े भाई और मैं इसके बाद घर यानी चुनार लौट आए। हमारे आग्रह करने पर भी, माता के लिए भी, मझले साहब ने मंडली छोड़कर चुनार आना स्वीकार नहीं किया।

राममनोहरदास

महन्त भागवतदास 'कानिया' की नागा-जमात के साथ मैंने पंजाब और नार्थवेस्ट फ्रण्टियर प्राविंस का लीला भ्रमण किया। अमृतसर, लाहौर, सरगोधा मण्डी, चूहड़ काणा, पिंड दादन खाँ, मिंटगुमरी, कोहाट और बन्नू तक रामलीलाओं में अपने राम स्वरूप की हैसियत से शिरकत करते रहे। यह सब सन् १९११-१२ ई० की बात होगी। मेरा ख़याल है उन्हीं दोनों बरसों में कभी दिल्ली में वायसराय लार्ड हार्डिंग पर बम भी फेंका गया था। उसकी चर्चा रामलीला-मंडली वालों में भी कम गरम नहीं रही। फ्रण्टियर से चुनार लौटने के बाद शीघ्र ही हम दोनों भाई पुनः अयोध्याजी चले गए थे। इसका ख़ास सबब था चुनार आते ही बड़े भाई साहब का पुनः जुआ-जगाड़ी जमात में जुड़ जाना, जिससे खोसा फटते ज़रा भी देर न लगी। ऋणदाताओं के मारे जब घुटन महसूस करने लगते, तभी भाई साहब चुनार छोड़ दिया करते थे। अयोध्या से मझले भाई श्रीचरण पांडे उर्फ सियारामदास ने पत्र दिया था कि वह इन दिनों महन्त राममनोहरदास की मंडली में हैं। महंतजी मालदार हैं, साथ ही भागवतदास कानियाँ से कहीं उदार। एक्टरों की तनख़्वाहें पुष्ट, तुष्टिकारक हैं। मझले ने बड़े भाई से आग्रह किया था कि वह भी राम मनोहरदास की मंडली में आ जाएँ। सो, हम जा ही पहुँचे। राममनोहरदासजी की मंडली के साथ मैंने

रफ्तार

सी० पी० के कुछ नगरो तथा यू० पी० के अनेक नगरो का भ्रमण किया। मेरा काम था रामलीला मे सीता और लक्ष्मण बनना। इस तरह अयोध्या, फैजाबाद, बाराबंकी, परतापगढ, दलीपपुर, अलीगढ, बुलन्द शहर, मेरठ, दिल्ली दमोह, सागर, गढाकोटा कटनी आदि स्थानो में रामलीला का स्वरूप बनकर ग्यारह बारह साल की उम्र में बन्देखाँ ने सहस्र सहस्र नर नारियो से चरण पुजवाए हैं। इससे पूर्व ये ही चरण पजाब और सीमाप्रान्त के मण्डी नगरो में भी पब्लिक द्वारा परम प्रसन्नतापूर्वक पूजे जा चुके थे। चरण ब्राह्मण के। छ साल की उम्र ही मे चुनार में कुमार पूजन के अवसर पर बहैसियत ब्रह्मकुमार मेरे चरण अक्सर पूजे जा चुके थे। ब्राह्मण ने कैसा रग समाज पर बाँध रखा था। भीख लेता था तनकर। दान देते समय दानी भिखारी के चेहरे नहीं, चरणो की तरफ देखता था। राममनोहर दास की मडली का सारा रग ढग कमोबेश वही था जो भागवतदास की मडली का, इस फर्क के साथ कि पहली मडली मे साधुओ की सख्या नब्बे प्रतिशत थी, पर दूसरी में सौ में नब्बे एक्टर व्यावसायिक आवारा मिजाज लोग थे। स्वय भागवतदास राममनोहरदास के मुकाबले में कहीं अधिक चरित्रवान् थे। राममनोहर दास, वरागी होने पर भी, रहते थे गृहस्थो के बाने मे। पहनते थे कुरता, कमीज, धोती, कोट, मोटे चश्मे काली दाढी, अलबर्ट कट, दह गुटठल, चेहरे पर बाइ तरफ नाक के निकट बडा-सा मस्सा। राममनोहरदास मनजर अच्छे थे। उनकी मडली अधिक उत्तम ढग से रामलीलाए दिखाती थी। लेकिन लगोट के वह कच्चे थे—भद्द ढग स। वह किसी-न किसी सुदर 'स्वरूप' बालक

पर रीझकर पहले सोने के गहना से उसे लाद देते (दे नहा डालते, केवल पहनने की सहूलियत देते)। फिर उसी को लोहे के कश वाक्स को कुजी भी दे देते। सेक्रेटरी और शिष्य के बीच के काम उससे इतना लेते कि अवसर थककर वह उन्हीं के गुदगुदे गदेले पर रात काट देता था। और सवेरे मडली वालों मे अनतिक कानाफूसी चलती। फिर भी वातावरण ऐसा था कि स्वरूप-मडली के सभी बालक मन ही-मन महन्त राम मनोहरदास की कृपा के आकांक्षी रहते थे। एक बार यह प्रकट हो जाने पर कि अमुक स्वरूप महन्त से 'विलट' गया, मडली के दूसरे मनचले अधिकारी, भण्डारी, शृ गारी, लीलाधारी भी मौके-बे-मौके उस पर जरूर लपकते। फलत स्वरूप को कुरूप बनने मे कुछ भी देर न लगती। मैं बच जाता था इन दुष्ट लीलाधारियो से अपने दो-दो बडे भाइयो के सबब जो तेजस्वी प्रदाकार और तगडे जवान थे। फिर भी, मैं बिगडा नहीं, ऐसा कहना 'बनना' होगा, जो मेरी बान नहीं, बाना भी नहीं। असल मे स्वरूपा यानी लडकों के रहने-सोने का प्रबन्ध अलग ही हुआ करता था। और मैं सोता था स्वरूपो मे ही। नतीजा यह होता था कि बडा द्वारा कुरूप बना हुआ स्वरूप बेहिचक, रूप की निहायत नगी परि-भाषा भोले साथियो को पढाता था। यानी खरबूजे से खरबूजा रग पकडता ही था। इस तरह राममनोहर-दास की राम-मडली जबरदस्त पाप पार्टी भी थी। मेरा खयाल है इन्ना यया है, इसका पता मुझे इसी मडली मे बारह साल की वय म लग गया था। बारह साल की उम्र मे मैं सत्रह साल की एक अभिरामा श्यामा पर

तिरगट ऐसा आशिक हो गया था कि 'सोने मे जस कोई दिल

को मला कर हैं' का अनुभव मुझे तभी हो गया था। उस सुन्दरी के लिए मै सारा दिन वेचन रहा करता था कि कब रात हो, कब उसके मादक स्वादक मयक मुख के दशन हो। मेरा प्रथम और अन्तिम प्रम भी वहा था। उसक बाद जो मामले हुए उसी शाश्वत साहित्य क सक्षिप्त, सस्ते सस्करण मात्र थे।

हा तो लीला बाराबकी म दिखायी जा रहा थी। प्रोग्राम एक मास तक का था। लीला भूमि मे महिलाओ के बठने का प्रबन्ध लीला मच के बहुत ही निकट था। उन्हीं म वह सत्रह सालो निराली न्यूटी वाली, कमल-लोचना भी गस लाइट मे प्रफुल्लित नजर आती थी। उसी कामिनी म कुछ देखने काबिल भी था, यह मैंने जाना मडली के दिल फेंक एक्टरो और अपने बडे भाई को भा उसकी तरफ बार बार देखते देखने के बाद। बाल-उत्सुक्ता वश, सीताजी क मेक अप मे ही, रग मच से हा, मैं भी उसे देखता और दखता और देखता। देखती थी वह भी मेरी तरफ। शायद वह भी ताक भाक वाली आली थी। सो मैं देखता ही रहा, मन्त्र मुग्ध, लकिन ऐय्यारा ने डोरे डाल, भक्ति भावना म बहका परदे क पाछ नजदाक से रामजी क दशन कराने क बहाने अन्दर ले जा, पहले महन्तजा मे उसका सयोग करा दिया। राममनोहरदास न उसको एक महगी बनारसी साडा दी, जिसे उसने ले भी लिया। बस यौवन क जादू का नाव खुन-जसा गया। लेकिन वह वेश्या नहीं था। उसका पति साल म दस ग्यारह महोने बबई रहा करता था। सो, यौवन का महावृष्टि म उसक चलन को बयारी फूटकर बह चला था। लकिन बदमाश लीलाधारिया क चक्र मे पडते हा आठ ही दस

दिनो मे वह भयानक यौन रोग ग्रस्त हो गई थी। श्रौर सयोगवश इसी बीच उसका पति बम्बई से आ गया। शक्की मद उसी रात अपनी देवी की देह दशा ताड गया। सदिग्ध भाव से घर मे श्रौर भी कोई प्रमाण तलाशने पर बनारसी साडी भी उसके हाथ लगी। सुना, इसके बाद वह मद कुछ ऐसा उत्तेजित हुआ कि रसोई बनाती रामा रमणी को बाहर घसीट, मुह मे कपडा ठूस, नगी कर, हाथ पाँव बाँध, उसे एक खम्भे से बाध दिया। इसके बाद चूल्हे मे लोहे की छड लाल करके पिशाच के उल्लास से वह तरुणी का अग अग दागने लगा। सारे शहर मे कोहराम मच गया। बडा होहल्ला मचा। मरने के पहले उस श्रौरत ने बयान दिया था कि उसे रामलीला वालो ने बरबाद किया है। लेकिन महन्त राममनोहरदास बडे काइयाँ थे। जहा भी मडली जाती पहले वहाँ की पुलिस से ही प्रेम बढाते थे। फिर राम का बलवान नाम लीलाधारियो के साथ था। साथ ही वह आदमी कोई बडा आदमी नहीं था। सारा दोष उसी के माथे मढा गया। पाखण्डी लीला वाले फिर भी पुजते रहे। श्रौरत अस्पताल मे मर गई थी।

यह सब सुनकर पुलिस से प्रेम होने पर भी महन्त राममनोहरदास मन ही-मन डरे, साथ ही, कम्पनी के अन्य छिपे रुस्तम भी प्रकम्पित हो उठे। फलत येनकेन प्रकारेण प्रोग्राम पूरा कर मनोहरदास मडली के साथ बाराबकी से सागर प्रस्थान कर गए। फिर भी, मारी जाने, मर जाने, भस्मीभूत हो जाने के बावजूद बाराबकी वाली की वह बाँकी छवि, वह मादक, छलकती, छाती को छूती, अछूती जवानी की हवा मेरे हृदय से न गई, न गई। श्रौर मैं उदास-उदास रहने लगा, प्रेत-बाधित

जसा। मेरी चचलता कम होने लगी, भीड छटने लगी। अब ध्यान होता सत्रह साल वाली का—और बारह साल के वेचन धाडे होते। और बेचनी होती। ऐसा मचलता मन होता जिसका पता न चलता कि वह आखिर मचल रहा है क्या? वही उस्ताद का शेर दिलेनादा तुझे हुआ क्या ह? आखिर इस दद की दवा क्या हे? लेकिन मैंने पहले दद जाना, दवा क लिए तरसने का रस चखा, गालिब' का शेर तो इस वाक्या के मुद्दतो बाद मैंने सुना। फिर भी कमाल! सारी गजल दिल को छूने वाली—

हम हैं मुश्ताक़ और वह बेजार
या इलाही! य माजरा क्या हे?
ये परी चेहरा लोग कसे हैं?
गम्जा ओ इश्व ओ अदा क्या ह?
सब्जा ओ-गुल कहा से आत हैं?
अब्र क्या चीज ह? हवा क्या ह?

या इलाही! या इलाही! या इलाही! य माजरा क्या ह? उसके सवनाश पर मेरे सीने म दद क्या हुआ? जो हो वही मेरे सीने म मुहब्बत की आग कुछ एसी जगमगा गई, जो किसी कदर आज तक मुझे गरमाती, तपाती, जलाती यानी जिलाती रहती हे। और मेरे सलोने सौभाग्य म बारह बरस का ही वय म मुहब्बत बदी थी। उस शायर न झूठ कहा होगा जिसने कहा, मेरा मिजाज लडकपन से आशिकाना था लेकिन मैं सच कहता हू। कोइ पूछ सकता ह—इससे मेरा फायदा हुआ या नुक्सान? यह सवाल वही करगा जिसे मुहब्बत क राहोरस्म का इल्म मुतलक न होगा। मुहब्बत सासारिक हानि-लाभ क तराजू पर तौली जान

दियासट

योग्य जिस यदापि नही । इसका तो जीवन के सुदुलभ सुधा-मधुर स्वाद से सम्बध है । वहा उस्ताद ने इश्क से तबीग्रत ने जोस्त का मजा पाया, दद की दवा पाई, दद बेदवा पाया । इस वे ऋतु के प्रेम ने मुझे अकारण प्रेम के माग पर कुछ ऐसा उतार दिया कि आज तक मैं मन के मचलने से नहीं—न जाने क्यो—किसी को प्यार करता हू । वकौले दिल चाहेगा जिसको उसे चाहा न करेंगे, हम इश्को हविस को कभी इक जा न करेंगे । मैं महसूस कर रहा हू—डूबकर निकलने वाले दोस्त पूछना चाहते हैं कि साठ के हो गए आज तक जनाब दिल फेंक ही हैं ? जी हा । मैं बरसो से उम्र क्यो गिनू ? जीवन की गति से क्यो न जांच ? अभी मेरी भावरें नहीं पडा । विवाह नहीं, सगाई नहीं । उस बारावफी वाली से दिल लगने के बाद मैं बराबर कुआंरा ही रहा हूँ । लानत है साधारण गिनती पर ! जोड, बाकी, गुणा मेरे भाग मे भगवान् की दया से कभी नहीं रहे । मथमेटिक्स मे मैं इतना मन्द कि साठ का हो जाने पर भी गधापचीसी के आगे जीवन जोडने की तमीज बिलकुल नहीं । आदमी के चेहरे की यह मूछ-दाढ़ी, मेरे मते, व्यक्ति की बजरता विदित करने वाले कुग्रास हैं । खास खास देवताओ की मूर्तियो मे उनकी वय किशोर और युवा ही क्या बतलायी जाती है ? इसी लिए कि परम भागवत-तत्त्व व्यक्ति मे तभी तक रहता है जब तक मूछ-दाढी नहीं रहती । मर्यादा-पुरुषोत्तम होने पर भी राम या भगवान्स्वय कृष्ण की मूछें और दाढ़ी किसी ने देखी हैं ? इतने विकट भयकर प्रलयकर होने पर भी शकर के विग्रहो मे दाढी-मूछ कहाँ होती है ? क्यों ? इसका अथ यही ह कि कोई कृष्ण की तरह

अमत रास करने वाला हो या शकर की तरह प्रलयकर ताण्डव सृष्टि और नाश, दोनो ही आदमी के हाथ मे तभी तक रहते हैं जब तक उसे मूछ-दाढी की दिक्कत दरपेश नहीं आती। यह मूछ-दाढी मूढ मानव के बाहर तो बाहर, अन्दर भी निकलती है। इनमे अन्दर वाली को आदमी सावधानी से साफ करता रहे तो बाहर वाली उतनी भयावनी नहीं साबित होती।

भानुप्रताप तिवारी

बचपन मे मेरे मुहल्ले मे दो हस्तिया ऐसी थीं जिनका कमोबेश प्रभाव मुझ पर सारे जीवन रहा। उनमे एक थे भानुप्रताप तिवारी (जब मैं सात बरस का था, वह साठ के रहे होंगे), दूसरे महादेव मिश्र उर्फ बच्चा महाराज, जो उन दिनो चालीस के भीतर की उम्र के रहे होंगे। भानुप्रताप तिवारी के अच्छे-अच्छे दो-दो मकान, पर वह स्वय मुख्य मकान के द्वार देश की सड़ास के सामने की अघ अंधेरी, सीलन भरी बदबूदार कोठरी मे रहा करते थे। पहनते थे गाढे के चारखाने का लम्बा रुईदार कोट और पुराने ढग का पाजामा—रुईदार ही। भानुप्रताप तिवारी के ब्रह्माण्ड या बीच खोपडी मे कोई ऐसा व्रण हो गया था जिसके सबब अधेड अवस्था ही मे वह सहज, सामाजिक जीवन के अयोग्य हो गए थे। रोग असाध्य था, कम भोग दारुण, फिर भी, तिवारीजी सारे जीवन-रूप से डटे हुए मरण से लोहा लेते रहे। कुछ नहीं तो तीस चालीस बरस उन्होंने उसी बदबूदार अंधेरी कोठरी मे काटे। उस घोर दुःख को बडी ही शान से वह भुगतते रहे। मस्तिष्क मे व्रण होने के बावजूद पण्डित भानुप्रताप तिवारी अंधेरी कोठरी मे, खाट पर रजाई ओढ़े तीस चालीस बरस तक या तो उत्तम, गभीर ग्रन्थों का अध्ययन किया करते थे अथवा किसी सद्ग्रन्थ का अनुवाद, भाष्य, समीक्षा आदि। कहते हैं सिर मे घाव

 पदा होने के काफी पहले से उन्हें लिखने-पढने का शौक

था। मिर्जापुरी बोली म उन्होंने तुलसीकृत रामायण की एक टीका भी तभी शुरू कर रखी थी। भानुप्रतापजी ने रामायण की अपनी टीका मे रघुनन्दन राम को तुलसीदास की तरह परब्रह्म स्वरूप नहा स्वीकारा था। कुछ या लोअर लाइन्स के अंग्रेजो की सगत से मुहल्ले के ब्राह्मणो की दृष्टि मे भानुप्रतापजी नास्तिक बन चुके थे। रामायण की उस टीका मे अनेक अवसरों पर उन्होंने ऋषि मुनियो की खिल्ली भी खूब उडाई थी। कहते हैं चुनार मे एक बार कोई सन्त अयोध्यावासी आये और सयोग से भानुप्रताप तिवारी तक उनकी रसाई हो गई। तिवारीजी महात्मा को छेडछाड की अदा मे निजकृत तुलसीकृत रामायण की टीका सुनाने लगे। उसमे बालकाड मे मिथिला की महिलाओ ने ब्रह्मर्षि विश्वामित्र को इसलिए भला बुरा कहा था कि उनकी दृष्टि म चक्रवर्ती दशरथ के राजमहल के सुखो से छुडा जगल जगल बहकाकर किशोर कुमार राम-लक्ष्मण के साथ उन्होंने क्रूरता दिखलायी थी। ऋषि विश्वामित्र के प्रति भानुप्रतापजी की छिछली भावना भापते ही वह अवधवासी महात्मा मारे रोष के स्वयमेव क्रोधी कौशिक बन उठे— चपल चाण्डाल!' उन्होंने शाप दिया था—' इस टीका का समाप्ति के पूर्व ही तेरी टीका विदीर्ण हो जाएगी। और वह महात्मा वहा से अवि लम्ब चलते बने। और अनतिदूर भविष्य मे ही भानु प्रतापजी की खोपडी के मध्य म वह घाव अनायास ही प्रकट होने बढने, रिसने, जिन्दगी हराम करने लग पडा था।

तिवारीजी के पिता सरकारी नौकरी म नाजिर थे। उनका तहसील चुनार मे आना-जाना था। स्वय

भानुप्रतापजी भी चुनार के किले मे कोई अधिकारी थे। अवश्य ही उन्हे आरंभ ही से लिखने पढने का व्यसन रहा होगा। वह अरबी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, ब्रजभाषा एव खडी बोली के मर्मी ज्ञाता थे। जब बनारस मे 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र थे, तभी चुनार मे भानुप्रताप तिवारी जवानी पर रहे होगे। तिवारीजी के दोनो घरो मे कुछ नही तो दस हजार जिल्द पुस्तकें विविध भाषाओ की, बहुमूल्य एव अमूल्य, सग्रहीत रही होगी। उनकी अध अधेरी कोठरी मे तो चारो ओर किताबो से भरी आलमारिया और रेकें ठसी थीं। उनकी लिखी एकाधिक छोटी छोटी किताबें बीसवीं सदी के आरम्भ के पहले ही छप चुकी थीं, स्वान्त सुखाय, अमूल्य वितरणाय। उनमे एक पुस्तक चुनार पर थी। चुनार का सक्षिप्त इतिहास और समसामयिक नागरिक कुलो का परिचय। उस पुस्तक मे भानुप्रतापजी ने मेरे खानदान की चर्चा भी कुछ तो उसकी विचित्रता के कारण और कुछ इसलिए की है कि वह हमारे यजमान थे। भानुप्रतापजी के हम पुरोहित थे। उसी पुस्तक मे तिवारीजी ने मेरे एक प्रपितामह का वर्णन किया है, जो पढे लिखे मुतलक नहीं थे, फिर भी प्रसिद्ध सिद्ध थे। हमारी कुल-देवी भगवती दुर्गा दुख विनाशनी सुदर्शन पाडे—यही उनका नाम था—पर रीझ गई थीं। सो, मेरे प्रपितामह के सकेत-मात्र से राजद्वार का भला शास्त्रार्थ करने काबिल हो जाता था। सिद्ध सुदर्शन पांडे अपने घर की टूटी चारदीवारी पर बैठे दातुन कर रहे थे कि किसीने सुनाया कि कोई भारी सिद्ध उनसे मिलने को सिंह पर सवार, हाथ मे सर्प का चाबुक लिये आ रहा है। सुनते ही सुदर्शन पांडे ने टूटी चारदीवारी को एड लगाई—

खानदान

"चल तो। महात्मा का इस्तक्वाल आगे बढकर करें।" और चारदीवारी उन्हे लेकर चल ही तो पडी। मेरे परदादा का प्रतापी चमत्कार देख वह सिह सवार सिद्ध उनके चरणो मे लोटने लगा था।

वही अनपढ सिद्ध सुदशन पाडे एक दिन स्नान सन्ध्या के बाद घुटनो तक गगा मे खडे सूय को अघ्य दे रहे थे कि बीच धारा से तत्कालीन काशिराज का राज बजडा गुजरा। अमित तेजस्वी ब्राह्मण पर नजर पडते ही राजा ने जलयान-चालको को उधर ही चलने का इशारा किया। राजा के निकट कोई ऐसा भी था जो सिद्ध सुदशन पाडे से भली भाति परिचित था। उसने देखते ही काशिराज को बतलाया कि वह तेजस्वी ब्राह्मण है कौन। दुनिया की नजरो म महामूख, मगर भगवती का भारी साधक—सिद्ध। सुदशन पाडे के निकट जा राजा ने पूछा—"महाराज, गगा गभ म क्या क्या चीजें हो सकती हैं?" 'गगा गभ मे?' चमत्कारी सुदशन ने सुनाया—"गगा-गभ मे खरगोश का बच्चा होता है। और क्या?" खरगोश का बच्चा? गगा के अन्दर? राजा बनारस को ऐसा लगा गोया ब्राह्मण ने उनका उपहास किया अनुचित असम्भव उत्तर देकर। राजा क नथने ईषत् फूले, भवें तनीं होठ असन्तुष्ट फडक "महाजाल डाला जाए गगा मे और जाचा जाए कि क्या पानी क अन्दर खरगोश का बच्चा भी बसता है? एक बार जाल डाला जाए, दो बार, तीसरी बार भी अगर खरगोश क बच्चे का सुराग न लगे तो राज अपमान के लिए धष्ट ब्राह्मण का मैं शासन करना चाहूगा।' सो महाजाल डाला गया—एक बार, दो बार। लो, तीसरी बार जगी जाल मे फँसा सुन्दर खरगोश का बच्चा! राजा ने स्तम्भित हो दाता

बदतर

अँगुली दाबी और सुदर्शन पाँडे को एक सौ आठ बीघे जमीन, जिसमें चार कुएँ और दो आम की बगिया, उसी समय दान मे दी। इस घटना के बाद सुदर्शनजी जब घर लौट रहे थे तो राह के जंगल मे एकाएक किसी ने तेज चाटा उनके गाल पर जड़ा। "मूर्ख कहीं के! देख तो मेरी चूदरी चिन्दी चिन्दी हो गई कटीली झाड़ियों मे खरगोश का बच्चा ढूंढते-ढूंढते।" चकित सुदर्शन ने देखा, सामने चिथी चूनरी पहने खड़ी कुमारी के रूप मे स्वयं जगज्जननी वात्सल्यमयी सर्वकल्याणी सर्वमंगला को!

यह सच भी है, जिसका इशारा भानुप्रतापजी की पुस्तक मे भी है कि मेरे खानदान के लोग हरसू (पांडे) नामक ब्रह्म के वंश के हैं, जिनका परम प्रसिद्ध स्थान उत्तर प्रदेश बिहार की सीमा पर स्थित चनपुर मे है। इन्हीं हरसू ब्रह्म को स्वर्गीय परम विद्वान डा० रामदास गौड आदर से मानते थे। इन हरसू ब्रह्म की सौ सोलह पेजी जीवनी छपकर भक्त जनता मे सहस्त्र-सहस्त्र की संख्या में बिकती है। कैसी जीवनी! मेरे विख्यात पिता मह हरसू पाँडे जिस राजा के राजपुरोहित या गुरु थे, एक बार उसने नयी-नयी कोई शादी की। रात को जब वह चौमंजिले के रनिवास मे गया, विलास का अवसर आया, तब अचानक नयी रानी की नजर सामने मगर दूर से आते प्रकाश पर पड़ी, जो राजभवन के बराबर ही किसी महल के चौमंजिले की खिड़की से आ रहा था।

"यह किसकी खिड़की है मेरे कक्ष के सामने?" जरा रोष मे रानी राजा को और भी रमणीय मालूम पड़ी। "यह प्रकाश मेरे कुल-गुरु हरसूजी के निवास की खिड़की से आ रहा है।"

गिरतार "राज भवन के बराबर महज ब्राह्मण का भवन!

छि ।"

"मगर ?"

"क्या अगर ? क्या मगर ?"

"वह परम सिद्ध पुरुष—हरसू पाडेजी—हमारे पुरोहित, पिता से बढकर हैं।"

"पिता से बढकर कोई परम पिता हो, परन्तु शयन कक्ष के सामने किसी की भी खिडकी दरवाजा मुझे नापसन्द है। सामने वाले घर का एक खण्ड पहले गिराया जाए, फिर आप राजा, फिर मैं रानी ।"

"स्त्री !"

रानी के बिगडे दिल पर राजा के मुख से 'स्त्री' शब्द, हीन भाव से निकलते ही साप सा लोट गया। वह फूल-सेज से सॉपिणी-सी सरककर कक्ष से बाहर जाने लगी—"आप मेरे प्राण ले सकते हैं—राजा हैं, म अबला हू पर मुझे अपने मन के खिलाफ आचरण करने पर विवश नहीं कर सकते। मैं बाजार से खरीदकर नहीं लायी गई हू—पाणिगृहीता कुलीना, राज्य कन्या हू। अभी मेरे पिता जीवित और समर्थ हैं।'

कहते हैं कई दिन तक रूपवती यौवनगर्विता रानी ने हठ नहीं छोडा। तब, विवश हो, काम-मोहित राजा ने पुरोहित हरसू पाडे से पूछा कि रानी को प्रसन्न करने के लिए यदि वह अपने भवन का एक खण्ड गिरा दें तो कोई बडी हानि होगी क्या ?

"हानि ?" तेजस्वी हरसू पाडे ने दुहराया—"कामिनी का आग्रह रहे गुरु की मर्यादा चूल्हे भाड मे जाए—इसमे कोई हानि ही नहीं ? मैं कहता हू औरत के मोह से जिस राजा की मति मलीन हुई उसके नाश म अधिक देर नहीं लगती।" राजा स्तब्ध, सुन, चुप रहा। चौहत्तर

प्रचण्ड पुरोहित के आगे विशेष बोलने की उसकी हिम्मत न हुई। हरसू पाडे का सारे राज्य मे दिव्य ब्राह्मण होने के कारण बडा मान था। उनके दर्शनो मे बरकत मानी जाती थी। बचपन ही से राजा के मन में हरसू जी के प्रति श्रद्धा थी। लेकिन नयी रानी, कल की आयी। उसे तो अपनी सौतों को यह दिखलाना था कि राजा पर उसीका एकाधिकार है। सो, दिनों तक खींचातानी चलती रही। न रानी ने स्त्री हठ छोडा, न हरसू पाडे को ही अपना मान मर्दित कराना मजूर हुआ और न राजा ही की हिम्मत पडी कि रानी के लिए पुरोहित भवन का एक खण्ड बलात् गिरवा दे। लेकिन एक दिन जो न होना था वही हुआ और राजा ने पुरोहित भवन का एक खण्ड बलात् गिरवा दिया। इसको अपमान मान राजपुरोहित हरसू पाँडे ने राज-द्वार पर आमरण अनशन ठान दिया था। अनशन के इक्कीसवें दिन हरसू पाडे के प्राण जाते रहे थे। प्राण त्यागने के थोडा ही पहले राजा की पहली रानी की कन्या के हाथों कटोरा भर दूध ग्रहण करते हुए हरसूजी ने राजपुत्री को आशीर्वाद दिया था "जा, केवल तेरा वश बचेगा।" विख्यात है कि हरसू पाँडे मरने के बाद प्रचण्ड ब्रह्म प्रेत हो गए। साथ ही, सहसा, पडोसी राजा ने उस राजा पर चढाई कर दी। उसको पराजित कर, सारा राजपाट, ठाठ-बाट विध्वस्त, अग्निसात् कर दिया था। उसी ध्वसावशेष के बीच मे हरसू ब्रह्म की भारत प्रसिद्ध समाधि है। हरसू ब्रह्म बिहार और उत्तर प्रदेश के अनेक भागो मे देवताओं से भी अधिक पुजते हैं। बुरा-से-बुरा भूत प्रेत-बाधित व्यक्ति हरसू ब्रह्म जाकर चगा ही जाता है। हरसू ब्रह्म के मेले मे सारे देश से प्रेत-

वाधित प्राणी—प्राय स्त्रिया—हर साल प्राते हैं।
वीरान-उजाड मे पचासो हजार प्रादमियो की भीड लगती
है, लाखो का व्यापार धधा होता है, दसो हजार रुपये
वहा के पडे प्राप्त करते हैं। ऊपर से माल मलाई,
रेशम, कम्बल, रजाई भी। मैं पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'
हरसू ब्रह्म के कुल का हू—निस्सदेह। विदित विद्वान,
प्रेत पडित रामदासजी गौड ने लिखा है कि हरसू ब्रह्म
के यज्ञोपवीत सस्कार मे गोस्वामी तुलसीदासजी शामिल
हुए थे।

लेकिन ब्रह्म या प्रेतात्मा अथवा भूतो के अस्तित्व
पर मेरा विश्वास जरा भी नहीं। ससार का सबसे
भयानक भूत म पचभौतिक प्रादमी को मानता हू। मने
भयानक-से भयानक भवन, सन्नाटे से सन्नाटे मदान
ऊजड वीरान मे भी ढूढने पर जब एक भी भूत, भुतनी
या भूतनी कुमार को नहीं पाया, तब भूतो पर से मेरी
प्रास्था भले ही न उठ गई हो, पर यह विश्वास दृढ हो
गया है कि प्रादमी से भयभीत हो भूत भी भागा भागा
फिरता है।

पर, मैं भानुप्रताप तिवारी की चर्चा कर रहा था।
तिवारीजी जिस कोठरी मे रहा करते थे उसके पूरबी
द्वार के सामने ही बडा भारी पीपल का पेड था। चिल
कती दुपहरी या चमकती चादनी मे पीपल के पेड के निकट
खडे-खडे पेशाब करते हुए भानुप्रताप तिवारी पूरे प्रेत
मालूम पडते थे—हड्डीले रक्तरहित, उजले—धसी प्राखें,
चेहरे पर सारी सृष्टि के लिए श्मशानी-शाप। भले
चारखाने का रुईदार पायजामा और उसी रग का लम्बा
दगला रुइदार। बहुत लडकपन म मैं तो तिवारीजी के
सामने तक जाने से डरता था और यदि उस गली से

दिहत्तर

गुजरना ही होता, तो जहा तक उनका मकान था उतनी गली में भयभीत दौडता पार करता था। लेकिन जब भी उनकी कोठरी मे नजर जाती वहा कोई साहब अंग्रेज बठा होता, या मेमसाहब गोरी होती, या बगाली मोशाई होते। तहसील के अधिकारी या ईसाई मिशनरी या साधु या फकीर। और भानुप्रताप तिवारी उसी डेस्क मे खाट पर अधपड़े फर्राटी इगलिश या हिंदुस्तानी गडगडाती आवाज मे बोलते होते। भानुप्रताप तिवारी जब तक जीवित रहे, चुनार मे विश्वकोश माने जाते थे। कबीर, दादू, दरिया, मलूकदास, रदास आदि अ-ब्राह्मण सन्तों के प्रति उनका अनुराग विशेष था। इनकी रचनाओं की उन्होंने टीकाएँ तथा समीक्षाएँ लिखीं। तुलसी की रामायण पर भी जिल्द-की जिल्द, रजिस्टर-के रजिस्टर भरे। एक-दो नहीं, पचासो पुस्तकें उन्होंने स्वान्त सुखाय, चित्तविलास के लिए लिखीं। आगन्तुक विद्वानो से उन्हीं विषयों पर तिवारीजी चतुर चर्चाएँ चलाया करते थे। मैं काफी बडा होने पर स्कूल मे दाखिल हुआ। चौदह साल की उम्र में नेहरू जवाहरलाल लन्दन म शिक्षा पाते थे, लेकिन बचन पाडे का नाम चौदह साल की उम्र मे चुनार क चर्चमिशन स्कूल मे, थड क्लास मे लिखा गया। तब मुझे पुरोहित-वश का जानकर—या क्यों—भानुप्रतापजी ने मुशी मथुराप्रसाद रचित त्रिलिगुअल डिक्शनरी दी थी। वह आज भी मेरे घर की पुस्तकों मे हो तो ताज्जुब नहीं। तिवारीजी की दो-दो ब्याहता बेटियाँ थीं—मना और गिरजा। एकमात्र पुत्र था रामगुलाम तिवारी, जिसका पुकारने का नाम 'मलुक्की' था। मिडिल पास रामगुलाम तिवारी तहसीली रजिस्टार का क्लर्क था। रामगुलाम तिवारी विवाहित था।

ब्याहता

भानुप्रतापजी की पत्नी तगडी, मालकिन मुखी, निहायत नेक दिल थी। लेकिन मारे दुलार के उन्होने अपने पुत्र रामगुलाम तिवारी को बरबाद कर डाला था। मारे मोह के वह माता अपने बिगडे बेटे को दारू पीने और जुआ तक खेलने के लिए रुपये ही नहीं देती थी बल्कि दूसरे के घर मे जाकर पूत सक्ट मे न पडे, अतएव अपने दूसरे घर मे जुए की फड लगाने देती थी। उस दूसरे घर मे मलुक्को कुछ भी करता था। इस लडके को लेकर भानुप्रताप और उनकी पत्नी मे प्राय विवाद होता। भानुप्रताप शासन करना चाहत (असाध्य रोग पीडित खाट पकडे प्राणी) पर पत्नी के आगे उनकी एक न चलती—सिवाय जबान के। और तिवारीजी सारी जिन्दगी अपनी पत्नी को धारावाहिक भाषा मे गालिया सुनाते रहे। रामगुलाम तिवारी भानुप्रताप के सामने ही पहली बार जुए मे गिरफ्तार किया गया था, लेकिन भानुप्रताप के प्रभाव से तहसील के नेक दिल अधिकारियो ने उसे बचा दिया था। इसके बाद भानुप्रतापजी का देहान्त हुआ और रामगुलाम तिवारी सरकारी रुपयो से जुआ खेलने के बाद अमानत म खयानत गबन मे गिरफ्तार हुआ। मुकदमा बरसा चलता रहा। दरमियान मे राम गुलाम की पत्नी मर गई। पुलिस को बेटे का कुशल क लिए रिश्वत देती-देती मोहमयी माता मालकिन से भिखारिन बन गई, फिर भी, इस भ्रम मे कि उसक पास छिपा धन है एक पुलिस अधिकारी ने उस बेचारी को बो-वो गालियाँ सुनायीं, एसी एसी कमीनी धमकिया दीं कि सारा मुहल्ला त्रस्त हो उठा। अन्त में जिस बेटे क मोह मे वह माता मर मिटी उसको दो वष की सख्त सजा हो गई। इसी बीच में भानुप्रताप तिवारी का

अस्हृतर

सारा बहुमूल्य पुस्तकालय, उनकी लिखी पाण्डुलिपिया बेचकर मलुवको ने जुआ खेल लिया था। उसके जेल जाते ही वह मोहमयी माता मर ही गई। ऐसे भया नक दु ख से विदीर्ण होकर भानुप्रताप का मकान भी 'भहरा' पडा, जिसकी एक एक इट या ढोंका दुनियादार पडोसी चुन ले गए।

अन्त मे जुआडी कुलागार रामगुलाम तिवारी का एक पुत्र बच रहा था—नन्दन—तेरह चौदह साल का, जो दिन में सज्जन पडोसियो के यहा पशुवत परिश्रम करने और रात मे दुष्टा के साथ कुकर्म करने पर टुकडे पाता था। देखते ही देखते भानुप्रताप तिवारी के वश का ऐसा हाल हुआ कि जिनके महलो मे हजारो रग के फानूस थे, झाड उनकी कब्र पर है और निशाँ कुछ भी नहीं।

भानुप्रतापजी की पत्नी लगडी मालकिन सुनी निहायत नेक दिल थीं। लेकिन मारे दुलार के उन्होंने अपने पुत्र रामगुलाम तिवारी को बरबाद कर डाला था। मारे मोह के वह माता अपने बिगड़े बेटे को दाम दी। और जुआ तक खेलने के लिए रुपये ही नहीं देती थी बल्कि दूसरे के घर में जाकर पुत्र संकट में न पड़े अतएव अपने दूसरे घर में जुए की फड़ लगाने देती थी। उस दूसरे घर में मनुहारी पुत्र भी करता था। इस लड़के को लेकर भानुप्रताप और उनकी पत्नी में प्रायः विवाद होता। भानुप्रताप शासन करना चाहते (असाध्य रोग-पीड़ित गाँठ पकड़े प्राणी) पर पत्नी के आगे उनकी एक न चलती—सिवाय बयान के। और तिवारीजी सारी जिन्दगी अपनी पत्नी को धारावाहिक भाषा में गालियाँ सुनाते रहे। रामगुलाम तिवारी भानुप्रताप के सामने ही पहली बार जुए में गिरफ्तार किया गया था, लेकिन भानुप्रताप के प्रभाव से तहसील के नये दिल अधिकारियों ने उसे बचा दिया था। इसके बाद भानुप्रतापजी का देहान्त हुआ और रामगुलाम तिवारी सरकारी रुपयों से जुआ खेलने के बाद अमानत में खयानत गबन में गिरफ्तार हुआ। मुकदमा बरसों चलता रहा। दरमियान में रामगुलाम की पत्नी मर गई। पुलिस को बेटे की कुशल के लिए रिश्वत देती-देती मोहमयी माता मालकिन से भिखारिन बन गई, फिर भी, इस भ्रम में कि उसके पास छिपा धन है, एक पुलिस अधिकारी ने उस बेचारी को वो-वो गालियाँ सुनायीं, ऐसी ऐसी कमीनी धमकियाँ दीं कि सारा मुहल्ला त्रस्त हो उठा। अन्त में जिस बेटे के मोह में वह माता मर मिटी उसको दो वर्ष की सख्त सजा हो गई। इसी बीच में भानुप्रताप तिवारी का

सारा बहुमूल्य पुस्तकालय, उनकी लिखी पाण्डुलिपियां बेचकर मलुवरी ने जुआ खेल लिया था। उसके जेल जाते ही वह मोहमयी माता मर ही गई। ऐसे भयानक दुःख से विदीर्ण होकर भानुप्रताप का मकान भी 'भहरा' पड़ा, जिसकी एक एक इंट या ढोंका दुनियादार पड़ोसी चुन ले गए।

अन्त मे जुआड़ी कुलागार रामगुलाम तिवारी का एक पुत्र बच रहा था—नन्दन—तेरह-चौदह साल का, जो दिन में सज्जन पड़ोसियों के यहां पशुवत परिश्रम करने और रात मे दुष्टो के साथ कुकर्म करने पर टुकड़े पाता था। देखते-ही देखते भानुप्रताप तिवारी के वंश का ऐसा हाल हुआ कि जिनके महलों में हजारों रंग के फानूस थे, झाड उनकी कब्र पर है और निशां कुछ भी नहीं।

बच्चा महाराज

"बापू !" नयार सहश न वृद्ध, पत्नि और पुत्र वत्सल पिता को सम्बोधित किया।

'बचवा !

"मिर्जापुर म पुलिस सब ्न्स्पेक्टर की नौकरी मेरा एक दोस्त जो कि पुलिस म है मुझे दिलाने को तयार है। क्या कहते हो ?'

"धन्यभाग्य, बचवा !" प्रसन्नप्राय पिता ने सुनाया, "पुलिस मे तो हवलदार भी हो जाना घर म लक्ष्मी का पाँव तोडकर बठना होता ह।'

"दोस्त ने लिखा है कि सब इन्स्पेक्टरी तो धरा-जसी है, लेकिन "

"लेकिन क्या बचवा ?"

"कोशिश-परवी मे कुछ तो खर्चा वर्चा लगेगा ही। रुपये डेढ सौ लगेंगे, तब मैं सब इन्स्पेक्टर बन सकूगा। मेरा चेष्टा भरसक यही रहेगा कि चुनार ही मे मेरा नियुक्ति हो।

चुनार म अपना बटा छोटा दारोगा होगा, इस कल्पना ही ने वद्ध पिता को कुछ ऐसा गुदगुदाया कि तिजोरी खोलकर उसने उसी समय डेढ सौ लोईदार विक्टोरिया रुपये बेटे क आगे गिन दिए। बेटे राम उसी समय दुघडी साध दो ही दिन बाद लौटने का वायदा कर मिर्जापुर को रवाना हो गए। एक दिन, दो दिन, तीन और चार दिन जब गुजर गए और पाचव का भी प्रभात हो गया

मस्ता

तब पिता का माथा ठनका। उसे दाल मे काला ही-काला दिखायी पड़ने लगा। तब तक एक जाने-पहचाने महाशय मिर्जापुर से आये, जिनसे वृद्ध व्याकुल बाप ने पूछा, "क्या भाई, मेरे बेटे का भी कोई खोज-पता है ?"

'क्यों नहीं ! उसके तो गुलछर्रे हैं आजकल ।"

पिता को पूर्ण विश्वास हो गया कि उसका पूत निश्चय ही सब इंसपेक्टर-पुलिस हो गया।

"गुलछर्रे ? तो हो गया वह सब इन्सपेक्टर-पुलिस ? भई, क्या खबर तुमने सुनायी है ! चलो मेरे घर, तुम्हारा मुह मीठा कराऊँ।"

"मगर कौन नकुवा सब-इन्सपेक्टर-पुलिस बना ?" हैरान परिचित ने कहा, "वह तो पिछले पाच दिन से मिर्जापुरी इक्के पर दो-दो तवायफें बठाए, अफीम के ऊपर शराब चढाए यहाँ के ऐय्याशो मे चुनार का झण्डा फहरा रहा है। जाकर देखिए भी।'

इस पर हाय-तौबा करता हुआ बूढा लालची बाप जब तक मिर्जापुर पहुँचा तब तक पुत्र महाशय डेढ सौ तो उड़ा ही चुके थे, ऊपर से रण्डी भड़वों के पचास रुपया के कर्ज़दार भी हो चुके थे। लाचारी थी, बेटा अपना था, बदनामी का बड़ा भय था। अत पिता ने पचास रुपये और पानी मे डालकर बेटे का उद्धार किया। पिता का नाम था ब्रह्मा मिश्र, पुत्र का महादेव मिश्र उर्फ बच्चा महाराज।

मुहल्ला मद्दूपुर के सबस अधिक धन-पुष्ट ब्राह्मण थे ब्रह्मा मिश्र। हमारे बच्चे मकाना में परम पक्की हवेली एक उन्हीं की थी। पहली पत्नी से बच्चे न होने के सबब ब्रह्मा मिश्र ने दूसरी शादी की थी। तब महादेव मिश्र एक भाई तथा तीन बहनें पैदा हुइ। महादेव मिश्र उर्फ

बच्चा महाराज ने क्या पढ़ा था कहाँ पढ़ा था मुझे आज भी पता नहीं पर सारे जीवन वह प्रथम श्रेणी के धूर्त, ऐय्यार, चतुर बदमाश थे। वह उन लोगों के दुष्ट थे जिनके एक ही जूता मारते सहृदय मनुष्यता का हलवा शुरू हो जाता है। वह बहुत आकर्षक वक्ता गुणी परम रंगीन मिजाज परम धूर्तराज सभ्य भी सभ्यतामयी और भगवान भूठ न कहलाये—सब लोगों थे। जवानी में उन्होंने चेचक का टीका लगाने वाले सरकारी इंसपेक्टर का काम कुछ बरसों किया कुछ बरसों चुनार के चर्च मिशन स्कूल में संस्कृत हिन्दी टीचर रहे। शेष सारा जीवन बच्चा गुरु ने अद्भुत आकर्षक आवारगी में बिताया। बच्चा महाराज अभी गत वर्ष तक जीवित रहकर प्रायः नब्बे वर्ष की दीर्घ उम्र में मरे। अन्त काल तक उनकी रंगीन मिजाजी उनके साथ रही। बच्चा गुरु मेरे पिता के समवयस्क, मेरे बड़े भाई को चौपट घाट उतारने वाले और मेरे तो गुरु ही थे। चर्च मिशन स्कूल, चुनार में तीसरी से छठी क्लास तक प० महादेव मिश्र से मैं कोर्स की किताब की हिन्दी पढ़ता था। बच्चा गुरु अध्यापकी यों करते थे कि किसी पैसे वाले छात्र को दक्षिणा लेकर मानीटर बना देते थे। इसके बाद क्लास में आते ही वह तो कुरसी पर बैठे-बैठे टेबल पर पांव पसार अफीम के नशे में अध सो जाते और राज करता था मानीटर। मुहल्ले का होने से उनकी शराब-कबाब, जुआ मण्डली में लघु सेवक की तरह उपस्थित रहने वाले की हैसियत से, मुझे भी गुरुजी ने मानीटर बना दिया था।

गुरुजी मजबूत कमजोर दोनों ही प्रकार के छात्रों से ऊपर की आमदनी करना सनातन धर्म की रू से अपना

जन्म सिद्ध अधिकार मानते थे। चवन्नी से लेकर दस पाच रुपये तक सामथ्य ताडकर बच्चा गुरु छात्र या उसके पिता से ले लेते थे। दक्षिणा के बाद कर्ज भी लेने मे उन्हे सकोच न होता। गरीब छात्रों से गाव का घी, शहद, नया गुड, तेल के अचार, ईख का रस, बाजरा, अरहर, जो भी सम्भव होता ले लेते। मानीटर की हैसियत से मैं भी कमजोर कामरेडो से मुफ्त की मिठाइया और फल खा लेता था। हत्थे न चढ़ने वालों को स्वय साधारण छात्र होने के बावजूद गुरुजी की कृपा से मैं मार तक बठता था।

बच्चा महाराज महा भयानक, साथ ही, महा विचित्र व्यक्ति! भयानक भी विचित्र होते ही रसज्ञों के देखने की वस्तु एक रस हो जाता है। है कि नहीं? बच्चा गुरु टीचर रहे हो या वक्सिनेटर, सरकारी नौकरी मे रहे हो या अध-सरकारी, अफीम, शराब, वेश्या और जुआ हमेशा उनके सग रहे। साथ ही, नित्य नेम से पूजा-पाठ भी। पुरा तक वह मिट्टी का महादेव बना, हाथ का अर्घा, पार्थिव-पूजन किया करते थ। दुर्गासप्तशती का पाठ भी उन्हे प्रिय था। वह स्तुति के श्लोक इतनी तन्मयता से, भावुकता से, स्वर और विरामयुक्त करते थे कि लगता था इष्टदेव से प्रत्यक्ष बातें कर रहे हैं। शकराचार्य द्वारा प्रस्तुत भगवती की शिखरणी छन्द वाली स्तुति का गान वह भाव विभोर होकर करते थ। गीतगोविन्द के पद और विनयपत्रिका क अनेक पद वह बहुत ही तेजस्विता से उपस्थित करते थे। ज्योतिष और वद्यक, तन्त्र और मन्त्रों मे भी उनकी मार्मिक गति थी। वह बात-बात मे कोई तज फिकरा, कोई श्लोक-खण्ड, कोई दोहा-चौपाई, शेर या कहावत जोडने मे निहायत

बच्चा महाराज ने क्या पढ़ा था कहाँ पढ़ा था मुझे आज भी पता नहीं पर सारे जीवन वह प्रथम श्रेणी के धूर्त, मक्कार कम्बख्त बदमाश थे। वह उन नामों के दुष्ट थे जिनके एक ही जूता खाते सहृदय [illegible] का इलाज शुरू हो जाता है। वह बहुत बाकायदा बड़ा शौकीन परम रंगीन मिज़ाज परम शृंगार गंजभंगी मयपायी और भगवान् झूठ न कहलाये—सब भोगी थे। जवानी में उन्होंने चेचक का टीका लगाने वाले सरकारी इन्सपेक्टर का काम शुरू करके किया, शुरू करके चुनार के चर्च मिशन स्कूल में संस्कृत हिन्दी टीचर रहे। शेष सारा जीवन बच्चा गुरु ने अद्भुत, आश्चर्य आवारगी में बिताया। बच्चा महाराज अभी गत वर्ष तक जीवित रहकर प्रायः नब्बे वर्ष की दीर्घ उम्र में मरे। अन्त काल तक उनकी रंगीन मिज़ाजी उनके साथ रही। बच्चा गुरु मेरे पिता के समवयस्क, मेरे बड़े भाई को चौपट घाट उतारने वाले और मेरे तो गुरु ही थे। चर्च मिशन स्कूल, चुनार में तीसरी से छठी क्लास तक प० महादेव मिश्र से मैं कोर्स की किताब की हिन्दी पढ़ता था। बच्चा गुरु अध्यापकी यों करते थे कि किसी पैसे वाले छात्र को दक्षिणा लेकर मानीटर बना देते थे। इसके बाद क्लास में आते ही वह तो कुरसी पर बैठे-बैठे टेबल पर पाँव पसार अफीम के नशे में ऊँघ-सो जाते और राज करता था मानीटर। मुहल्ले का होने से उनकी शराब-कबाब, जुआ-मण्डली में लघु सेवक की तरह उपस्थित रहने वाले की हैसियत से, मुझे भी गुरुजी ने मानीटर बना दिया था।

गुरुजी मजबूत कमजोर दोनों ही प्रकार के छात्रों से ऊपर की आमदनी करना सनातन धर्म की रू से अपना

जन्म सिद्ध अधिकार मानते थे। चवन्नी से लेकर दस पाच रुपये तक सामथ्य ताडकर बच्चा गुरू छात्र या उसके पिता से ले लेते थे। दक्षिणा के बाद कर्ज भी लेने मे उन्हें सकोच न होता। गरीब छात्रों से गाव का घी, शहद, नया गुड, तेल के अचार, ईख का रस, बाजरा, अरहर, जो भी सम्भव होता ले लेते। मानीटर की हैसियत से मैं भी कमजोर कामरेडो से मुफ्त की मिठाइया और फल खा लेता था। हत्थे न चढने वालों को स्वय साधारण छात्र होने के बावजूद गुरूजी की कृपा से मैं मार तक बठता था।

बच्चा महाराज महा भयानक, साथ ही, महा विचित्र व्यक्ति ! भयानक भी विचित्र होने से रमनों के देखने की वस्तु एक रस हो जाता है। है कि नहीं ? बच्चा गुरू टीचर रहे हों या वक्सिनेटर, सरकारी नौकरी मे रहे हों या अध-सरकारी, अफीम, गाजा, बेटा और जुआ हमेशा उनके सग रहे। साथ ही, [illegible] के पूजा-पाठ भी। युगों तक वह मिट्टी का [illegible] हाथ का अर्घा, पार्थिव-पूजन किया करते थे। [illegible] शती का पाठ भी उन्हें प्रिय था। [illegible] इतनी तन्मयता से, भावुकता से, [illegible] कहते थे कि लगता था [illegible] है। शकराचार्य द्वारा [illegible] धर गाता स्तुति का [illegible] थे। [illegible] पर वह [illegible] और [illegible] था। [illegible]

[illegible] [illegible]

निपुण थे।

लेकिन जुआ के समय जो वह विपक्ष के सामने बैठ जाता, आंखों में आंसू भर लेते थे वह यही सोचकर कि भगवान भी ऊपर ही ऊपर खेल खेला सा करता है। साथ ही वह मानकर भगवान को भी पाठ पढ़ा सकते हैं। मुझे याद भी मन में याद है बच्चा गुरु के भाव जो वह जुआ में कौड़ी-कपोत विपरीत पड़ने पर व्यक्त किया करते। हे नाथ! वह भगवान को सम्बोधित करते—"कहाँ भूल गए दयालो! दास को? प्रभो दीनबन्धो, दया करो!' और कौड़ी-कपोत अपने पक्ष में पड़ते ही वह लड़पकर विनयपत्रिका सुनाने लगते जयति राज राजेन्द्र राजीव लोचन राम, नाम कलि कामतरु साम शाली। हेलया दलित भूभार भारी!

उन दिनों घर, मझधार गंगा में नाव पर, पास के गाँवों में, जहाँ भी जुआ होता बच्चा गुरु उसमें जरूर उपस्थित होते। इस तरह गुरुजी ने इतनी बड़ी जिंदगी आखिर बितायी कैसे? जुआ के लिए पुष्कल पैसे आवश्यक होते हैं। ठीक है। बच्चा गुरु ने उसकी युक्ति सोच रखी थी। पहले उन्होंने खासी सम्पत्ति में जो उनका हिस्सा था उसे चुपचाप अपने छोटे भाई के नाम लिख दिया और फिर सूदखोर बनियों से उसी सम्पत्ति पर ऋण पर ऋण लेना शुरू किया। कलई खुली तब जब किसी बनिये ने दावा किया। कुर्की लेकर आने पर पता चला कि बच्चा गुरु का तो परिवार की सम्पत्ति से अरसे से कोई वास्ता ही नहीं। मैंने कहा है, चुनार में बच्चा गुरु की सबसे ज्यादा जजमानी थी और उन दिनों, फिर भी, कैसे भी, ब्राह्मण को कष्ट देते हुए सेठ-साहूकार, श्रीमान्, कम्पित होते थे। सो, साहूकारों ने कई हजार

रुपये बट्टे खाते डाल, कान पकड़, जीभ दबाकर मजूर किया कि चुनार में कोई गुरु है तो वह हैं प० महादेव मिश्र उर्फ बच्चा महाराज। हजारों वाले तो बच्चा गुरु को ब्राह्मण जान गम खाकर रह गए, लेकिन एक कोई बनिया ऐसा भी था जिसने सौ पचास रुपये के लिए केस चला, डिग्री करा, अदालत के अहाते ही में गुरु को धर पकड़ा था। निर्णय था कि या तो वे रुपये देते या जेल जाते। बच्चा गुरु को जब हथकड़ी लगने लगी, उन्होंने अधिकारियों से अपने घर चलने को कहा, ताकि वह रुपये दे सकें। हथकड़ी पहने ही सिपाहियों के साथ अपने मुहल्ले में लाये गए, लेकिन इस शान से उनके आने का समाचार सुनते ही उनकी मालदार माता ने एक दमड़ी भी न देने का निश्चय कर घर का मजबूत दरवाजा अन्दर से बन्द कर लिया था।

लेकिन, गुरुजी गुरु ही थे। चारों तरफ से हताश होने पर उन्होंने ऋण-दाता ही को दबोचा—"चल, नीच बनिये। ॐ फट स्वाहा! कर ब्रह्म हत्या, क्योंकि जेल में मुझे अफीम मिलेगी नहीं और बिना अफीम मैं एक सकण्ड जी नहीं सकता। चल, मैं ब्रह्म राक्षस बनकर तुझसे न निपटूँ तो ब्रह्मा मिश्र का नुत्फा नहीं। अभी तुझे पता नहीं है कि ब्राह्मण कैसा होता है। बच्चूजी! अब तुम पड़े कठिन रावण के पाले।" और पाठक विश्वास करें, वह बनिया भी खून घूटकर रह गया था, लेकिन गुरुजी से छदाम भी उसके पल्ले न पड़ा था। और साहब, सारे जीवन कोई-न-कोई मतिमन्द, गाँठ का पूरा, उनके हत्थे बराबर चढ़ता ही रहा। अफीम के ऊपर गाँजे की लम्बी चिलम एक ही हाथ की मुट्ठी से फुकफुकाकर लप लपाते हुए बच्चा गुरु निहायत लापरवाह भाव से

ललकारते थे—पकड़ बम ! कमाये दुनिया खायें हम ! भोले पकड़ गला ! जिसम पर मसान फूँक दिया कलकत्ता !

मैं समझता हूँ साठ साल की उम्र में बच्चा गुरु ने गुण्डई खत्म कर दिया था। अब वह बनारस के लिहाज वेश्या-बाजार दालमण्डी के (जिसका चप्पा-चप्पा उनका जाना-बूझा था) चौधरी बन गए। साठ से प्राय नब्बे की उम्र तक गुरुजी, जैसा बनारस जानता है सारे बनारस की वेश्याओं के विदित चौधरी थे। हर वेश्या चाहती कि वह उसी के घर पर रहा करें क्योंकि गुरुजी सुन्दरी स्त्री के चोर-बाजारी किस्तों-भर तक सायास प्रसन्नतापूर्वक बन जाते थे। वह वेश्याओं के घर जप-पूजा, सत्यनारायण, दुर्गासप्तशती के पाठ सलक कर करते। उनके बच्चों की जन्म कुण्डलियाँ बना देते दलदार नयट बनारसिया से उनका प्रोपेगण्डा कर देते। वह वेश्या को यार के यहाँ और मालदार आसामी को तवायफ के यहाँ स्वयंसेवकों की तरह पहुँचा देते। बच्चा गुरु की यह विशेषता थी कि उनकी सहानुभूति संसार के हर जीव से थी। किसी का कोई भी काम (सेवा नहीं) महज सहज रूप से आनन-फानन अंजाम देने को वह सदा ही तत्पर रहते थे। मुहल्ले के कुछ लोग यह मानते कि बच्चा गुरु की परोपकार-तत्परता दलाली कमाने मात्र की थी और वह दो उलझनों के निकट पार्टियों को पूर्णत उलझाकर अपना उल्लू सीधा किया करते थे। हो सकता है, उनकी नीयत यही रही हो लेकिन आज मुझे लगता है कि जन-सेवा—सारी बुराइयों के बावजूद—उनकी जान में घुली मिली हुई थी। गीता में 'पंडित' उसे माना गया है जो विद्या विनय

सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल को भी समदर्शी भाव एक नजर से बराबर देखता हो। यथाशक्ति सबका कल्याण साधने में बच्चा गुरु समदर्शी थे। ब्राह्मण की सहायता करते हुए यदि कभी उन्हें चाण्डाल दुःख-ग्रस्त नजर आया होगा, तो उसी आग्रह से उसके लिए भी उन्होंने सोचा होगा। भले ब्राह्मण का काम करते समय गुरुजी गंगा के गुण-गान करते लक्लोरेवसत स्यदम्बु विपत और भंगी-मेहतर की मदद करते समय उनके लिए बुरी-बुरी गालियाँ मुंह से निकालते। बच्चा गुरु सौ में नब्बे बार निर्विकार लच्छेदार गालियाँ सुनाया करते थे। और तो और, गुरुजी जिन्हें गालियाँ सुनाते थे वे भी सहज प्रसन्न हँसा करते थे। चाहते थे कि गुरुजी और बकें।

और अब मेरे सामने चित्र आता है गुरुजी की विवाहिता धर्म पत्नी गुलजारी चाची का। शायद वही बच्चा गुरु के जीवन की आदि या बुनियादी ट्रेजेडी रही हो। वह बड़ी कुरूपा थीं। उनका मुंह चेचक के दागों से भरा, गोल, नाक छोटी, होंठ मोटे, छरहरी-लम्बी गुलजारी चाची। वह शायद बेपढ़ी स्त्री भी थीं। कहाँ बच्चा गुरु-जैसा रंगीन मिजाज वाममार्गी, कहाँ गुलजारी चाची जैसी रसभंगिनी वामांगिनी! तो, अन्दर विस्फोट हुआ होगा। बच्चा गुरु गुलजारी चाची को अपने शयन-कक्ष में कभी न बुलाते, बशर्ते कि अफीम विषयक कोई हाजत न हो और चन्द क्षणों के लिए भी चाची को देखते ही वह जोर-जोर से चीखते, ताकि सारा मोहल्ला सुने और जाने कि बच्चा गुरु अपनी पत्नी को लताड़ रहे हैं। वह उसे बुरी-से-बुरी गालियाँ सुनाते। और वह भी थी कि अपने दुर्भाग्य ही जैसी, बीच में फूटे ढोल-जैसे कण्ठ से मुक्त-

ललकारते थे—अगड बम ! कमाये दुनिया खाएँ हम ! भोले अगड धत्ता ! चिलम पर चढाकर फूक दिया कलकत्ता !

मैं समझता हू साठ वष की उम्र म बच्चा गुरु ने जुआ खत्म कर दिया था। अब वह बनारस के विख्यात वेश्या बाजार दाल मण्डी के (जिसका चप्पा-चप्पा उनका जाना-बूझा था) आचाय बन गए। साठ से प्राय नब्बे की उम्र तक गुरुजी, सारा बनारस जानता है, सारे बनारस की वेश्याओं के विदित आचाय थे। हर वेश्या चाहती कि वह उसी के घर पर रहा करें, क्योंकि गुरुजी सुन्दरी स्त्री के पीर-बावर्ची भिश्ती-खर तक आकर्षक प्रसन्नतापूवक बन जाते थे। वह वेश्याओं के घर जप पूजा, सत्यनारायण, दुर्गासप्तशती के पाठ ललक कर करते। उनके बच्चों की जन्म कुण्डलिया बना देते दलदार गबरू बनारसियों से उनका प्रोपेगण्डा कर देते। वह वेश्या को यार के यहा और मालदार आसामी को तवायफ के यहा स्वयसेवकों की तरह पहुंचा देते। बच्चा गुरू की यह विशेषता थी कि उनकी सहानुभूति ससार के हर जीव से थी। किसी का कोई भी काम (सेवा नहीं) महज सहज रूप से आनन फानन अजाम देने को वह सदा ही तत्पर रहते थे। मुहल्ले के कुछ लोग यह मानते कि बच्चा गुरु की परोपकार-तत्परता दलाली कमाने मात्र की थी और वह दो उलझनों के निकट पार्टियां को पूणत उलझाकर अपना उल्लू सीधा किया करते थे। हो सकता है, उनकी नीयत यही रही हो, लेकिन आज मुझे लगता है कि जन-सेवा—सारी बुरा इयों के बावजूद—उनकी जान मे घुली मिली हुई थी। गीता में 'पडित उसे माना गया है जो विद्या विनय

छियासी

सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल को भी समदर्शी-भाव एक नजर से बराबर देखता हो। यथाशक्ति सबका कल्याण साधने मे बच्चा गुरू समदर्शी थे। ब्राह्मण की सहायता करते हुए यदि कभी उन्हे चाण्डाल दुःख ग्रस्त नज़र आया होगा, तो उसी आग्रह से उसके लिए भी उन्होंने सोचा होगा। भले ब्राह्मण का काम करते समय गुरुजी गगा के गुण-गान करते स्वस्तोरेवसत स्वदम्बु पिवत और भगी मेहतर की मदद करते समय उनके लिए बुरी बुरी गालियाँ मुह से निकालते। बच्चा गुरु सौ मे नब्बे बार निर्विकार लच्छेदार गालिया सुनाया करते थे। और तो और, गुरूजी जिन्हे गालिया सुनाते थे वे भी सहज प्रसन्न हँसा करते थे। चाहते थे कि गुरूजी और बकें।

और अब मेरे सामने चित्र आता है गुरुजी की विवाहिता धर्म पत्नी गुलजारी चाची का। शायद यही बच्चा गुरु के जीवन की आदि या बुनियादी ट्रेजेडी रही हों। वह बडी कुरूपा थीं। उनका मुह चेचक के दागो से भरा, गोल, नाक छोटी, होठ मोटे, इकहरी-लम्बी गुलजारी चाची। वह शायद बेशऊर स्त्री भी थीं। कहाँ बच्चा गुरु-जसा रगीन मिजाज वाममार्गी, कहाँ गुलजारी चाची जसी रगभगिनी वामागिनी! सो, जरूर विस्फोट हुआ होगा। बच्चा गुरु गुलजारी चाची को अपने शयन-कक्ष मे कभी न बुलाते, बशर्ते कि अफीम विषयक कोई हाजत न हो और चन्द क्षणो के लिए भी चाची को देखते ही बडे जोर-जोर से चीखते, ताकि सारा मोहल्ला सुने और जाने कि बच्चा गुरु अपनी पत्नी को लताड रहे हैं। वह उसे बुरी-से-बुरी गालियाँ सुनाते। और यह भी थी कि अपने

सताती दुर्भाग्य हो जाती, बीच मे फूटे ढोल-जसे कण्ठ से कुद्ध-न

शुद्ध शु भाषा बोल ही देती। बच्चा गुरु गुलजारी चाची को अक्सर मारते और अपनी जननी को भी परम अशोभन रूप से डाटते-फटकारते थे।

गुरुजो जिस भी वेश्या के घर मे कुछ दिनो टिक कर रहे होगे, जरूर कोई न कोई बहुत खूबसूरत देख लेने के बाद। यह वेश्या की नवोढा बेटी को मद्द-नजर रख उसकी माता से मुहब्बत करते थे। फिर उसे समझाते कि फला ढग से अगर यह लडकी पूजन अनुष्ठान करे तो लखपती तो फँसा ही धरा है। और रग बाध, रण्डी को धूर्तता मे बाध, उसी के घर मे कम-से कम इक्कीस दिन का अनुष्ठान शुरू करते।

अब आप बच्चा गुरु का हुलिया नोट कर लें—पौने छ फुट लम्बे, छरहरे, गेहुआं रग, बडी-बडी भावुक आखें हमेशा मुखरित होने को फडकते ओष्ठाधर, साधारण मूछें, घुटी दाढी, सिर पर इगलिश कट केश। बच्चा गुरु फेल्ट टोपी, बनियान, कडे कालर-कफ की कमीज, गेर वानी, नफीस धोती, जुर्राब और पम्प शू या विलायती कट बूट पहना करते थे। नाक पर हमेशा चश्मे, हाथ मे बराबर छडी। अगुलियो मे अगूठिया, जेब मे रेल-गाड घडी (*जो उन्होने जुए मे किसी जुआरी गाड से जीती थी*), एक हाथ मे मलाई का पुरवा दूसरे मे नमकीन और मिठाई के दोने। साथ मे एक-दो गण या चेले। अफीम, गाजा या मदिरा, अथवा इनमे से दो या तीनो के नशे मे धुत वह जब रास्ते मे चलते थे, सारी राह पावो से कहीं ज्यादा तेज बच्चा गुरु की जुबान चलती थी।

अब जब चर्चा चल ही पडी है, तो और एक चित्र गुरुजी का दिखलाऊँ। बच्चा गुरु ब्राह्मण-वेश मे चदन और चश्मे चढाए, उत्तरीय ओढे, ऊन के आसन पर नगे



स्व० बालमित्र श्री विश्वम्भरनाथ गुप्त
के साथ १८ वर्षीय उग्र जी (दाहिने)

सामने पृष्ठ पर

परम सतरंगी प० विनोद शंकरजी व्यास के साथ २५ वर्षीय उग्र जी (खुले सर)

ऊपर
उग्र जी सन् १९२७ ई
(कलकत्ता)

नीचे
बायें सन् १९३१ ई
(बम्बई फिल्म-कम्पनी में)
दायें सन् १९२० ई० (बनारस)







गंगा-स्नान से लौटते तरुण उग्र और विनोदशंकर जी



गो

मध्य भारत हिन्दी साहित्य-[illegible] [illegible]
बरसों टिककर आन्दोलन [illegible] [illegible]
१९४० ई०) ४० वर्षीय [illegible]
पौढ़ विजया पामन का [illegible]



को
टो
ारो



मतवाला' के यशस्वी सम्पादक और
मतवाला मण्डलाधीश स्वर्गीय बाबू महादेव
प्रसाद सेठ जिन्हें यह कृति समर्पित है।

पाण्डेय बेचन शर्मा
उग्र

सतालीस वर्षीय
उग्र जी बम्बई म



२२ वर्षीय 'उग्र' जी और ध्यान से
वाराणसी के गहरेबाज पालिटी-
शियन पं० कमलापति त्रिपाठी



अड़तालीस वर्षीय उग्र जी काशी की साहित्यिक मण्डली में।

खड़े श्री माधव मिश्र और मधुजी श्री राजकुमार काला कोट पहने श्री शिवमूर्ति मिश्र।

बैठे स्व० इन्दुकुमार श्री बेधड़क जी श्री पुरुषोत्तम जोशी श्री उग्र श्री बेढब बनारसी आचार्य सीताराम चतुर्वेदी श्री कमलापति त्रिपाठी अन्त में आचार्य शान्तिप्रिय द्विवेदी।

मे चसक जमे कोई मन्त्र कई बार जपने के बाद सामने बठी युवती की ओर फूँक मार रहे हैं। युवती गुरू की चहेती वेश्या की बेटी है। नथुनी अभी उतरी नहीं है। वह् मुमुखो, सुनयना, गोरी, मनवाली—गुरु की नजरों मे ब्लक लेबिल जानीवाकर ह्विस्की की उल्लास-लासमयी प्याली। युवती सुनयना को उसकी माता की हिदायत थी कि वह बराबर गुरुजी की तरफ देखती रहे, ध्यान से, ताकि पूरी तरह लाभ हो मन्त्र अनुष्ठान से।

वेश्या-बाज़ार मे यार की तरह, ऐयार की तरह, तन्त्री की तरह, मन्त्री की तरह, बुजुर्ग की तरह, बाबा की तरह, तरह-तरह की सूरतें हर तरह से देखते जिन्दगी के राजपथ से बच्चा गुरु लहर-बहर प्राय नब्बे की उम्र मे गुजरे। अन्त मे वे धनुष की तरह झुककर चलते थे। परन्तु उनकी आखें बोलती, मुडी और आवाज कडक्दार अन्त घडी तक बनी ही रही। बच्चा महाराज किसी का भी बुरा नहीं चाहते थे, फिर भी, उनके विचित्र चरित्र के आकर्षण से मुहल्ले के तरुण बरबाद हो गए। कुछ नहीं तो सकडा तरुणो को उन्होंने हराम घाट पर इस उत्साह से उतार दिया होगा मानो राम ही या राम अजाम दे रहे हैं।

प० जगन्नाथ पाँडे

अब मैं चौदह साल का हो चला था कि रामलीला मडली से छुट्टी मनाने वडे भाई के सग चुनार आया। इस बार अलीगढ मे किसी बात पर महन्त राममनोहर-दास और मेरे बडे भाई मे वादविवाद हो गया था, जिस पर भाई ने लीला मे स्वय काम करने या मुझे करने देने से इन्कार कर दिया था। महन्त ने धमकाया था कि लीला मे विघ्न पडा तो वह हमे पुलिस के हवाले कर देगा। सो, अलीगढ से भाई साहब रामलीला-मडली जीवन से ऊबकर आये थे।

जानकार जानते होगे कि चौदह-पद्रह साल की वय मे जवाहरलाल और श्रीप्रकाश लदन मे शिक्षा पा रहे थे—उत्तम-से उत्तम। लेकिन उसी उम्र में मुझे क्या शिक्षा मिली थी, मेरा जी ही जानता था। सच तो यह है कि शब्द शिक्षा मेरे निकट आते आते भिक्षा बन आया करता था। रामलीला मडली की आवारगी से मैं उतना नहीं परेशान था, जितना कि बडे भाई के गाजा-मस्त क्रोधी स्वभाव से। उनकी-मेरी सगत कसाई बकरे का साथ। कसाई भी वह जिसके बारे मे कहावत है—खस्सी जान से गया, कसाई को कोई जायका ही नहीं मिला। खर !

इस बार जो हम घर पर आये तो न जाने क्या मेरे सौभाग्य जागे कि मेरे पुत्रहीन पितव्य (चचा) ने, चाची की सलाह मानकर, मुझे गोद लेने का इरादा मेरे

बड़े भाई पर ज़ाहिर किया। इस प्रस्ताव से बड़े भाई का गला ही छूटता था, सो उन्हें राज़ी होने में देर न लगी। मैं चचा की गोद चला गया। अब उन्होंने, बाकायदा, मेरी शिक्षा-दीक्षा का निर्णय किया। फलतः चौदह वर्ष की वय में चुनार के चर्च मिशन स्कूल में मेरा नाम थर्ड क्लास में लिखाया गया। और मैंने स्कूल का मुह देखा। थर्ड ही क्लास में दुनियादारी, ऐयारी और यारी में मैं टीचर की कुरसी पर आसीन होने योग्य था। थर्ड, फोर्थ, फिफ्थ पास कर सिक्स्थ में मैं पहुँचा ही था कि मेरी चाची के एक सुन्दर-सा पुत्र पैदा हो गया। सो, चचा चची का वात्सल्य-बाज़ार-भाव गिरते देर न लगी। गोद जो मैं जुबानी लिया गया था, विधि विरहित, सो मुझे पुनः कठोर धरती पर धम-से पटक देने में अदूरदर्शियों को देर न लगी। चचाजी अपने परिवार के साथ काशी चले गए। मैं पुनः उसी भाई के ग़ैर ज़िम्मेदार चंगुल में लाचार जकड़ा गया। 'पुनि सो कहँ सोइ दिन, सोइ राती।' फीस की कमी, कपड़ों की कमी, राशन की कमी। आधिक्य उपदेशों और पिटाई का! धाम-न भुस खरहरा दस बार। इस सबके ऊपर कष्टदायी था भाई का बराबर जुआ-रत रहना। जीवन को सम्यक् कर्म के सहारे न छोड़ भाई साहब ने जुआ के आसरे छोड़ रखा था।

इसी बीच स्कूल में एक घटना घटी। मौलवी नियामत अली नामक एक कठमुल्लाजी थे, जो उर्दू, फारसी और अरथमेटिक छः सात आठवीं क्लासों को पढ़ाया करते थे। उनके विचार उस समय की हवा के अनुसार हिन्दू-भावना विरोधी थे। कई बार क्लासों में पढ़ाते-पढ़ाते

वह कोई ऐसी बात कह जाते जिसमें हिन्दू विद्यार्थियों को

मार्मिक चोट लगती। उनकी इन हरकतों से हिन्दू विद्यार्थी खिन्न और क्रुद्ध होने पर भी विवश थे। इधर मैं अपने भाई के अनुचित आचरण से आकुल हो विद्रोही बनने को ललक रहा था कि मौका आया। मौलवी ने एक दिन सेकण्ड क्लास में सुनाया कि हिन्दुओं के देवता तो मेरे पाजामे में बन्द रहते हैं। उस दिन क्लास के बाद कुछ लड़के बहुत ही नाराज नजर आए। तय पाया कि मौलवी का इलाज करने के लिए बनारस के जय नारायण हाई स्कूल के प्रिंसिपल साहब को तार से कठमुल्ला के दुर्व्यवहार की सूचना दी जाए। लेकिन अपने नाम से तार भेजने को कोई तैयार नहीं था। बिल्ली को घण्टी बाधने में भय था रस्टिकेशन (स्कूल से बाहर किये जाने) का। मैंने सोचा, रस्टिकेट होने में यह लाभ रहेगा कि पढ़ने से जान बचेगी, सो तार मैंने अपने नाम दिलवा दिया—"मौलवी लियाकतअली, मिशन टीचर इन्सल्टस अवर रिलिजस फीलिंग्स, नो सेटिसफैक्टरी इन्क्वायरी।—बेचन पांडे।" असल में चुनार का चर्च मिशन स्कूल काशी के जयनारायण मिशन स्कूल के अधीन था। अत तार पाते ही अग्रेज प्रिंसिपल साहब चुनार में, और बन्देखा स्कूल से गायब। क्योंकि रस्टिकेट होना और बात थी और बेंत खाना बिल कुल ही और बात। विद्यार्थी को डिसिप्लिन में रहना चाहिए। मैंने डिसिप्लिन के खिलाफ काम किया था। पाते तो वे मुझे आदर्श बनाने के लिए सारे स्कूल के सामने बेंतियाते। नहीं पाया, तो रजिस्टर से मेरा नाम ही उड़ा दिया। लेकिन बचे मौलवी साहब भी नहीं। प्रिंसिपल ने उनकी सख्त तम्बीह की। सयोगवशात उन्हीं दिनों काशी में चचा के यहां उनकी लड़की का गौना पड़ा,

बानरे

जिसमे सम्मिलित होने के लिए हमारे घर वाले भी बनारस गये थे। मौका पाकर, वहीं, चचा से मैं गिड़गिड़ाया कि वे मेरी भी पढाई का प्रबन्ध करें, नहीं तो मैं कहीं का भी न रहूँगा। उन दिनो चचा साहब की चलती थी। खासी आमदनी और खासा खर्चा था। काशी मे उन्हीं के व्यय से उनका दामाद पढता था और एक साला भी। मुझे तो चन्द ही महीनो पहले वह चुनार म पढा ही रहे थे। उन्होंने मुझे भी काशी मे रहकर पढने की इजाजत दे दी। चर्च मिशन स्कूल चुनार से मुझे जो सर्टिफिकेट मिला उसमे कन्डक्ट फेयर लिखा गया। पर ! बनारस के विख्यात हिन्दू (कालिजिएट) स्कूल मे छठे दरजे मे ले लिया गया। उस समय स्थानापन्न प्रधानाध्यापक के पद पर देव-तुल्य बालकों के हितैषी श्री कालीप्रसन्न चक्रवर्ती महोदय थे। चक्रवर्तीजी ने जब मुझसे सर्टिफिकेट म कन्डक्ट फेयर का सबब पूछा तब चपल वाचालतापूर्वक मैंने बतलाया था, क्योंकि वह क्रिश्चियन स्कूल था और मैं था ब्राह्मण, अत यह स्थिति उत्पन्न हुई। और लियाकतअली का किस्सा भी मैं सुना गया था। मैंने लिखा है ऊपर, चक्रवर्ती महाशय बालकों के वरदानी हितैषी थे। करेक्टर मेरा बैड भी लिखा होता तो भी भरसक वह सरस्वती-मन्दिर से मुझे विमुख न फेरते। उनका बडा मान था, महामना मालवीयजी की नजरों मे, काशी के बडे-बडों मे। हिन्दू स्कूल मे छठी और सातवीं क्लासें चचा की कृपा से मैंने पास कीं। इसके बाद चचा ने काशी के सोनारपुरा मुहल्ले म एक मकान खरीदा और अवनी से वहीं जाकर रहने लगे, हमे अपने अपने रस्ते लगने का संकेत कर।

निरानबे मैं अब निराश्रय होने के बाद, लक्ष्मीकुण्ड के

विख्यात लक्ष्मी-मंदिर में अपने जलालपुर गांव के काका रामानन्द दुबे के साथ रहने लगा। रामानन्दजी ब्राह्मण वृत्ति से चार पसे कमाते थे। अन्नपूर्णा मंदिर में भी उनका प्रवेश था। मेरा खयाल है, उदार श्री कालीप्रसन्न चक्रवर्ती ही ने दिवगत दानवीर बाबू शिवप्रसादजी गुप्त के नाम एक रुक्का लिखकर मुझे दिया था, ताकि बाबू साहब मेरी फीस और भोजन की व्यवस्था कृपया कर दें। रुक्का लेकर मैं 'सेवा उपवन' गया—ढाई कोस पैदल, नंगे पांव। शिवप्रसादजी-जैसे बड़े आदमी मुझसे क्या मिलते—अलबत्ता काम मेरा हो गया और मैं 'सेवा उपवन' से महीने भर खाने काबिल आटा, दाल, चावल, तेल, नमक और लकड़ी के कुछ नकद पैसे शायद लेकर यानी सिर पर लादकर नगवा से महालक्ष्मीजी आया। साल भर तक इसी तरह मैं 'सेवा उपवन' के अन्नसत्र से सामग्री सिर पर लादकर ले आता।

तब मैं आठवें दरजे में था। तब स्कूल के हेडमास्टर श्री गुरुसेवक सिंह उपाध्याय थे। महामना मालवीयजी ने उपाध्यायजी की शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता से मुग्ध होकर उन्हें सरकार से हिन्दू स्कूल का प्रधान बनने के लिए कुछ वर्षों के लिए उधार मांग लिया था। गुरुसेवकजी सरकारी ड्यूटी से ताजा-ताजा आने के सबब श्रेष्ठ हेड मास्टर होने पर भी 'छुट्टी पर डिप्टी-कलेक्टर' भी थे। आते ही उन्होंने विद्यार्थियों पर नियंत्रण का नीरस पंजा कसा—सिर पर टोपी क्यों नहीं है? ये जुल्फें सवारी क्या हैं? बोलते वक्त मुस्कराते क्यों हो? रामू श्यामू के गले में हाथ डालकर क्या चला? खबरदार जो कोई विद्यार्थी किसी के गले में हाथ डालकर चलता पाया गया! ठीक नहीं होगा। क्या जनानी सूरत बना

चौरानबे

रखो है ? मर्दों की तरह रहो।

उपाध्यायजी की बातें सौ में-सौ ठीक होती थीं—शायद कहने का ढंग या उस ढंग में स्नेह-सचार सम्यक् नहीं होता था। आज तो मैं यही मानूंगा कि उनकी बातें ठीक थीं, हमारी ही बुद्धि विपरीत थी, खासकर मेरी। एक दिन विद्यार्थियों और अध्यापकों की एक गोष्ठी में तुकबन्दी पढ़कर उपाध्यायजी के लहजे ही में मैंने सुनायी जो नितान्त अनुचित बात थी, भयानक दुस्साहस था। जब मैं वह तुकबन्दी पढ़ रहा था 'अनुचित-अनुचित भाव' में कई अध्यापक कुरसी से उचक तक पड़े थे। दूसरे दिन स्कूली पढ़ाई समाप्त होने के बाद ही उपाध्यायजी ने मुझे हेडमास्टर के कमरे में बुलाया। चाहा उन्होंने कि मैं क्षमा चाहूं उसी तुकबन्दी, उस भाव से पढ़ने के लिए। लेकिन मैं ढीठ ही रहा, धृष्ट भी। दूसरी ओर सालिक परीक्षा में भी फेल हो गया। परीक्षा में फेल होना असाधारण दुर्भाग्य ! अब बाबू शिवप्रसाद गुप्त के सत्र से न तो आटा मिलने की आशा, न दाल। फीस तक मोहाल। सो, मैंने बनारस में निराधार ठोकरें खाने से बेहतर अपने घर की लातों को समझा। मैं भाई के यहां चुनार भाग आया। बड़े भाई साहब मालगुजारी की तहसील वसूली के सिलसिले में गांव (जलालपुर माफी) गये हुए थे।

दूसरे दिन गांव की किसी अहीरन ने मुझे दस रुपये का एक नोट दिया कि मैं भाभी को दे दूं, भाई साहब ने भेजा है। दस का नोट हाथ लगते ही भाई के भय के मारे—कि मुझे फेल हुआ सुनकर वह क्या न कर डाल—मैं मात्र धोती-कमीज पहने और एक अंगोछा लिये

 चुनार स्टेशन चला आया। समय साथ, पहली ही ट्रेन

से कलकत्ता भाग जाने के लिए।

कलकत्ता शहर मे पहली बार मैं भूखे, निराश्रय, भगोडे की तरह पहुचा था। कलकत्ते मे मेरे पडोसी भाई विश्वनाथ त्रिपाठी रहते थे, जिनका (सन् १६१६ के अत म भी) 'विश्वमित्र' के विज्ञापन विभाग से तेजस्वी सम्बध था। मुझे मालूम था तब 'विश्वमित्र नारायण बाबू लेन अफीम चौरस्ता स निकलता था। वहाँ पहुचने से विश्वनाथ भाई के डेरे का पता चलता। हवडा पुल पार ट्राम पर सवार हो मैंने नारायण बाबू लेन का टिकट मागा, तो क डक्टर ने मुझे नीचे उतार दिया। कितना भटका मैं महानगरी के महा मकानो के वन मे 'विश्वमित्र' कार्यालय ढूढता ! और पानी बरसने लगा। जब मैं मछुआ बाजार कसाईपाडे मे भटक रहा था बरसात का पानी पावो के नीचे घुटने घुटने बह रहा था। बडी मुश्किल, बडे फेरो के बाद मैं 'विश्वमित्र कार्यालय के द्वार पर पहुचा था। सामने सीढियो का सिलसिला। दफ्तर ऊपर के तले मे था। नीचे रुककर पहले मैंने तरबतर धोती और कमीज निचोडी, तन का जल भी यथासाध्य सुखाया। फिर गीले ही कपडे मैं ऊपर की तरफ बढा। 'विश्वमित्र के विख्यात सचालक बाबू मूलचदजी अग्रवाल स मेरी पहली मुलाकात इसी ठाट मे हुई थी। मैंने उनसे कहा था—"मैं चुनार से आ रहा हू। विश्वनाथ त्रिपाठी का पता चाहता हू।' "विश्व नाथजी तो," निराश, मगर सदय, अग्रवालजी ने बतलाया, "कल ही रात चुनार चले गए।'

लाला भगवान 'दीन'

अरसा हुआ वाराणसी के दैनिक अखबार 'आज' मे आदरणीय प० श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल की चर्चा करते हुए मैंने लिखा था कि मेरे पाच गुरु है, जिनमे एक पालीवालजी भी हैं। उन पाचो मे मैं अपने उन ज्येष्ठ अग्रज को भी मानता हू जिनकी पिछले पृष्ठो मे मैंने भूरि भूरि भर्त्सना की है। बेशक वह गैर जिम्मेदार, बदमाश बदचलन, निरकुश बद व्यक्ति थे, लेकिन जब मैं क ख ग लिखना भी नहीं जानता था, तब उन्हे साहित्य पढने ही नहीं यथाशक्ति लिखने का भी शौक था। तत्कालीन समस्या-पूर्ति ('रसिक रहस्य', 'प्रियवदा' आदि) मासिक पत्रो मे अपने-तो अपने मेरी भावज के नाम भी रचकर समस्यापूर्तिया प्रकाशित कराते थे। एक बगाली डाक्टर को हिन्दी पढाते पढाते उन्होने बगला भाषा सहज ही सीख ली थी। फलत बँगला पुस्तको के सस्ते सस्करण तथा 'भारतवर्ष नामक विख्यात बँगला मासिक पत्र भी वह मँगाया करते थे। वह हमारे सामने बैठकर कवित्त रचते लेख लिखते। प्रत्यक्ष न सही, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से भाई साहब के इस विद्या व्यसन का बेचन पर बहुत शुभ प्रभाव अवश्य पडा होगा। सो, वह खराब आदमी—मेरा बडा भाई—मेरा आदि गुरु था। पालीवालजी के दर्शन तो बहुत बाद मे प्राप्त हुए। बीच मे प० पानोपति त्रिपाठी, लाला भगवान 'दीन' और पडित बाबूराव विष्णु पराडकर के शुभ नाम हैं। पानोपति

त्रिपाठी और लाला भगवान 'दीन' मुझे तब मिले जब कमलापति त्रिपाठी से मेरा परिचय हुआ। वैसे कमलापति जी हिन्दू स्कूल और मेरी ही कक्षा में पढ़ते थे, लेकिन मैं था फटे हाल अदना बालक और कमलापति थे प्रतिष्ठित पसापति-पुत्र। ब्राह्मण हमारे ही रंग के लेकिन अधिक चटकदार। सरयूपारीण में पंक्ति, यानी परम श्रेष्ठ। कमलापति धवल-नवल वस्त्र धारण कर माथे में भस्मी लगाए स्कूल आते। मैं जाता हीन दीन मलीन कपड़े पहने —धूल उड़ती चेहरे पर। मुझमें और कमलापति में ऐसा कोई भी साम्य न था कि हम मिलते। वह तुंग हिमालय शृंग, मैं धूलि धसी धरती की। लेकिन एक घटना घटी जिससे मैं रातों रात हिन्दू स्कूल के विद्यार्थियों में विशेषत विज्ञापित हो गया।

उन दिनों प्रधानाध्यापक थे रतिलालजी देसाई महोदय। अत गांधीजी का जन्म दिवस स्कूल में अधिक उत्साह से मनाया गया था। खचाखच भरे हाल में सभा हुई थी, निमन्त्रित एवं स्कूल के विद्वानों के गांधीजी के आदर्शों पर भाषण हुए थे। उसी सभा में महात्माजी पर मैंने एक तुकबन्दी (रोला छन्द में) पढ़ी थी। बिलकुल गलत-सलत, रद्दी। लेकिन उसमें गांधीजी का नाम था साथ ही विदेशियों के विरुद्ध विचार थे। बस, फिर क्या था! वह तो राष्ट्रीय भावना से भरी संस्था थी ही। हो हो हा हा! तालियों की गड़गड़ाहट। और दूसरे दिन बेचन पांडे हिन्दू स्कूल में माननीय कवि! बनारस के स्कूली प्रतिभाशालियों की काव्य शक्ति की उस परीक्षा में, जिसमें परीक्षा पत्र की तरह रचना लिखकर यशस्वी महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त, शील्ड और प्रथम पुरस्कार जीतकर ले गए थे उसीमें मेरी तुकबन्दी मुक्त

बिले मे दोयम मानी गई थी। मुझे भी द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुआ था। यद्यपि रचना श्रेष्ठ पन्तजी की थी, मेरी कुछ भी नहीं थी, लेकिन स्कूल मे प्रतिभा का अभाव होने से मुझ अधे के हाथ भी बटेर लग गई थी। इन्हीं घटनाओ के निकट कभी कमलापति त्रिपाठी से मेरा परिचय हुआ होगा, जो मात्र परिचय नहीं, हम दोनो ही के जीवन मे जबरदस्त मोड बनकर रहा। मेरा ठौर कहा, ठिकाना कहा, सो, बरसो मैं कमलापति ही के द्वार पर पडा रहता। विख्यात नाटककार श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र भी उन्हीं दिनों कमलापति ही के विशाल भवन मे सभवत किरायेदार की तरह रहा करते थे। कमलापति के फाटक वाले कमरे मे विशेषत उन्होंके घर की पुस्तकों से हमने एक पुस्तकालय खोला था—श्री लक्ष्मीनारायण पुस्तकालय। यहीं से हम 'उग्र' नाम का एक हस्त लिखित, सचित्र मासिक पत्र भी प्रकाशित करते थे। कमलापति के घर मे मेरी कद्र पहले उनके बडे भाई काशीपतिजो ने समझी ही नहीं, यों विघोषित किया कि उनके परिवार मे और पडोस मे और परिचितों मे भी जिक्र मेरा मुझसे बेहतर प्रमाणित होने लगा। काशीपतिजी को हम सब 'बडके भया' कहा करते थे। उनके गुरु-देव थे गदाधर शर्मा नामक सत्पुरुष, जिनका देहान्त हो चुका था। गदाधरजी को काशीपतिजी परम भावुकता से स्मरण किया करते थे। उनका प्रभाव उन्हें जसे सटकता था। उन्होंकी वार्षिक तिथि आई और उस अवसर पर काशीपतिजी को प्रसन्न करने के लिए मैंने घनाक्षरी छन्द मे गुरजी के बारे मे, काशीपतिजी की ओर से एक कवित्त रचा—

निभाके काहू करसी को मैं न रह्यौं, पर, जाको कृपा

तनु-तरु माहि बुद्धि पाई सुधा फर सी ।
नेह दिन दूनो रात चौगुनो ठयो जो रह्यो
भूलिहू न जाको दृष्टि मो प भई पर सी ।
वासना जहर-सी, हर सी थी कामवासना न,
रही मुख मण्डल प छटा गदाधर सी ।
बरसो गयो है बिनु जाके मम श्रास लता
ताहि गुरुदेव जू को श्राई श्राजु बरसी ।

लेकिन यह श्रध्याय काशीपतिजी श्रथवा कमला पतिजी का नहीं यह तो श्रद्धेय गुरुदेव लाला भगवान 'दीन जी का श्रध्याय है जो मेरे भाई के बाद, दूसरे पथ दर्शक थे। श्रसल मे कमलापति के यहा पहुचने के कारण ही मैं लालाजी के निकट पहुँच पाया था श्रत पति भाइयो की चर्चा इस प्रसग मे श्रावश्यक हुई ।

बात यो बनी । मैंने ध्रुवचरित पर एक खण्ड काय लिखा था फर्म सवा फर्म का । कमलापति की विदुषी भानजी स्वर्गीया श्यामकुमारी मिश्र ने उसे छपाने-योग्य रुपये दिये थे। पाण्डुलिपि श्रौर रुपये लेकर जब मैं भूमिहार ब्राह्मण प्रेस मे गया, तब उसे देखने के बाद प्रस के योग्य सचालक ने बतलाया कि रचना मे दोष श्रनेक हैं, श्रच्छा हो छपाने के पूव सशोधन करा लिया जाए । सो, मैं स्वरचित 'ध्रुव धारणा की पाण्डुलिपि लेकर जगनाथ शर्मा क बडे भाई चण्डिकाप्रसाद शर्मा के साथ लालाजी के डेरे पर गया ।

लाला भगवान 'दीन'जी की पसनेलिटी उनके उपनाम के श्रनुरूप ही थी । मुह पर चेचक के दाग, पक्का रग, ठिगना कद, मटमला, भद्दा मुनियाना लिबास । श्रलबत्ता लालाजी जब बोलने लगते थे तब उनक यक्तित्व की श्रसाधारणता स्पष्ट हो जाती थी । लालाजी सो

ने कई दिन तक परिश्रम कर मेरा खण्ड-काव्य प्रेस योग्य तो बना ही दिया। वह काव्य महाकवि अयोध्या-सिंह का 'प्रिय प्रवास' परम प्रेमपूर्वक कई बार पढ़ने के बाद प्राय उन्हीं छन्दों मे लिखा गया था। आरम्भ हुआ था कमलापति की खुशामद से—

जिस प्रकार पयोदधि मे सदा
कमल-लोचन श्री युत शोभते
बस, उसी विधि से उर 'उग्र' मे
निवसिये बसिये कमलापते !

लाला भगवान 'दीन' की 'हाबी' थी पढ़ाना पढ़ना, पढ़ना पढ़ाना। एक विद्यालय खोलकर नियम से वह विद्यार्थियो को उसमे सम्मेलन का कोर्स, निष्काम पढ़ाया करते थे। लिखने-पढ़ने मे फुरसत पाते ही लालाजी विद्यार्थियों को घर पर भी पढ़ाया करते। हिन्दू विश्व विद्यालय के लेक्चरर तो थे ही। लालाजी अखाड़िया स्वभाव के दंगली विद्वान् थे। भाष्य, समीक्षा, निबन्ध, काव्य—इन सब कलाओं मे लालाजी गम्भीर निपुण थे। सबसे ऊपर उनका हृदय सहज-कोमल स्नेहमय था। प्रसन्न-वदन 'विनयपत्रिका' विद्यार्थियों को पढ़ाते-पढ़ाते लालाजी भक्ति विभोर, सजल-नयन, गद्गद गिरा हो जाते थे। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, सलोने लेखक श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड 'बेढब', कोशकार स्व० मुन्शी कालिकाप्रसाद लालाजी के शिष्यों मे से हैं। मुझमे यदि कुछ प्रतिभा थी तो उसे लालाजी के मात्र आशीर्वाद का पोष प्राप्त हुआ। पढ़ा वह मुझे न पाए।

पढ़ा भी कहीं हर जन्म मे जाता है ? किसी जन्म मे पढ़ लिया—बस, जन्म-जन्मान्तरों के लिए बस हो एक सौ एक गया। 'गुरु-गृह गये पढ़न रघुराई, अल्पकाल विद्या सब

पाई' गाया गोस्वामीजी ने। तुलसी के राम सारी विद्याओं से पूर्व (जन्म के) परिचित थे, सो उन्हें अल्प काल ही में सारा ज्ञान उपस्थित हो गया था। दूसरी बात यह कि यदि प्रेम के महज ढाई अक्षर पढ़ लेने से पण्डिताई का बिल्ला मिल सकता हो तो ढाई हजार पुस्तकें पढ़ने के बाद हजारीप्रसाद बने यह—मेरा मत लय वही—जो अक्ल का जहाज हो।

एक बात बताऊँ ? मधुर महाकवि थी जयशंकर प्रसाद की तम्बाकू-जर्दा की दुकान वेश्याओं के मोहल्ले के सिंह द्वार पर थी। प्रसादजी की दूकान पर आध घंटा बठने ही से वेश्या बाजार की बानगी बहुत-कुछ मिल जाया करती थी। लाला भगवान 'दीन' का भाडे का मकान तो बिलकुल ही पिछवाड़े था, उस आत्यक दाल मण्डी के। जयशंकरजी बसे गोवर्धन सराय मे रहते थे, लेकिन दूकान से आते जाते शत-शत मगला-मुखियो का दर्शन वेश्यागामी का बिल्ला लगाए बगर ही मिलता था। लाला भगवान 'दीन' हमेशा तम्बाकू जयशंकर ही की दूकान की पीते थे। 'प्रसाद जी जब-जब दुकान पर होते तब-तब सुखद हास्य-व्यंग की दो दो चोचें जरूर होती थीं।

मुझ पर तत्कालीन महारथियो की कृपा भूरि भूरि थी। 'ध्रुव धारणा' के बाद दूसरी कृति जब मैंने 'महात्मा ईसा' के रूप मे प्रस्तुत की तब उसका सम्यक संशोधन लालाजी ने किया था। पुनर्वाचन प्रेमचंदजी ने। प्रेमचंदजी ने वह राय लिखी ईसा नाटक के बारे मे कि कोई आज भी पुस्तक के आरम्भ मे पढ ले। श्रद्धेय सम्पूर्णानंदजी की स्पष्ट सम्मति भी छपने के पूर्व ही मुझे प्राप्त हो चुकी थी। पहले सौ-मन-सौ साहित्यिक एसे

एक सौ दो

होते थे जो कहीं जरा भी प्रतिभा, जरा भी प्रसाद देखते ही उसका यथोचित आदर करते थे। आज जैसे वह चीज चली ही गई है। आज भी पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' को लिखना खाक पत्थर आता है, आप जानते हैं—लेकिन आज से प्रायः चालीस वर्ष पूर्व विख्यात पत्रकार और कलामर्मज्ञ 'अभ्युदय' के संपादक पं० कृष्णकान्त मालवीय महोदय जब मुझ पर मुग्ध हुए तब काशी आने पर 'मर्यादा' कार्यालय, ज्ञान-मण्डल, बुलवाकर उन्होंने श्रद्धेय सम्पूर्णानन्दजी से आग्रह किया था कि वह मुझ पर कृपालु रहें, "क्योंकि इनमें जो लेखक है वह असाधारण है।"

उन्हीं दिनों एक घटना और विचित्र ही घटित हुई थी। कानपुर से, 'प्रताप' पत्र से, श्री बेनीमाधव खन्ना नामक किन्हीं सज्जन ने हिन्दी-कवियों से एक राष्ट्रीय-गान रचना प्रतिद्वन्द्विता में शामिल होने का आग्रह किया था। विजयी को हजार रुपये पुरस्कार की घोषणा थी। प्रतियोगिता के जजों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, (सी० पी० के), जगन्नाथप्रसाद 'भानु', रामदासजी गौड़-जैसे परमाचार्य लोग थे। इस प्रतिस्पर्धा के लिए लालाजी ने भी जब एक गान प्रस्तुत किया, तब मेरे मन में भी आया कि अँधेरे में एक तीर मारने में घाटा ही क्या है। मैंने भी एक गीत गढ़कर भेज दिया। जब परिणाम प्रकट हुआ, तब जजों ने एक भी रचना राष्ट्रीय गान होने योग्य नहीं मानी। वैसे हजार रचनाओं में चार रचनाएँ एक श्रेणी की मानी गई थीं। उन चारों रचनाकारों के अब नाम सुनिए—मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, कुल पहाड़ एक सौ तान के एक कोई शिवकुमार शर्मा, और पाण्डेय बेचन शर्मा

'उग्र' । लालाजी की रचना रसज्ञो को स्पर्श न कर पायी। मेरा नाम बडे-बडो के साथ विज्ञापन मे आया। इस वाक्या से गुरु गुड ही रहते हैं, पर चेले के चीनी बन चलने की चाशनी मे तार पर तार पडने लगते हैं।

नीचे म उस काल की लिखी एक दो घनाक्षरिया उद्धत करता हू, जिन्ह जरा इधर या उधर छूकर लालाजी ने चमका दिया होगा, साथ ही, जिनमे न जाने क्या पाकर वह मुझ पर वरद हो उठे होगे।

सुख का पता

बागन में, वारिज मे, वल्लरी मे, वापिका मे,
बौर मे, बसन्त द्रुमहू के खोजि डारयो म।
वृन्दावन कुज, वर व्रजबनितान पुज,
गुजरत मजुल मलिन्द पखि हारयो म।
वाराणसी धाम, वामदेवजू को नाम, दिव्य
देवसरि धार मे न देखि निरधारयो म—
विश्व बीच है न सुख। 'उग्र', पर इते माहि
कारागार शृङ्खलानिहार मे निहारयो म!

ज्ञानमण्डल

'उग्र' तप करि क उदारता रिझायो विधि
मागो वरदान—'मोहि अमर बनाइये'!
बोले कमलासन—'न मेरो अधिकार इतो'
जाइ, पति कमला सन विनय सुनाइये।
कहे हरि तुठि—'हर पास चलि जाव किन ?'
शम्भु भाखे 'शिव परसाद'[1] पास जाइये।'

१ विख्यात दिवगत दानी समाज-सुधारक ज्ञानमडल के सचालक सस्थापक।

शिव परसाद—'एवमस्तु !' कहि बोले,
'अब, बठि ज्ञानमण्डल अखड गीत गाइये ।'

बफ और परस्त्री   पूर्ण रूपक

घाम गरमी मे दिनरात वह ज्योही 'उग्र',
त्यों ही चलि जात मन पाइबे को ललचात ।
दरस परस मे सुखपवान, सीतल है,
हीतल मे जाइ–अनुभावी कहें—होत तात ।
अधर लगाइ रस लेत ठरि जात रद,
सुध बतराव छुइबेते गात गरि जात !
प्यास न बुझात, अधिकात दिन रात बरु,
बरफ हमे तो पर-नारी सम है जनात ।

[ये कवित्त सन् १९२१-२२-२३ की रचनाएं हैं । ज्ञानमण्डल वाला छन्द गणेशजी द्वारा सम्पादित 'प्रताप' मे छपा था ।]

प० बाबूराव विष्णु पराडकर

यह चर्चा सन् १९२० और २१ ई० के बीच की होगी। यह सब मैं स्मरण से लिख रहा हू, क्योंकि डायरी रखने की आदत मैंने नहीं पाली, इस खौफ से कि कहीं राजा हरिश्चन्द्र की तरह अपना ही सत्य या तेज, अपने ही को भस्म न कर डाले! यह चर्चा तब की है जब ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उपवास करके आयरलैड के महात्मा मकस्विनी शहीद हुए थे। उन दिनो देश मे राष्ट्रीयता की लहर तेज प्रवाहित हो रही थी, जिसमे मेरे भी प्राण प्रसन्न डुबकिया लगाने को लालायित रहते थे। मैंने शहीद मकस्विनी पर एक लबी कविता लिखी। वह हिन्दू स्कूल के तेजस्वी हिन्दी अध्यापक प० सावलीजी नागर को मैंने सुनायी। सुनते ही वह प्रसन्न हो उठे। बोले—चलो, ज्ञान मडल, पराडकरजी से कहूगा कि वह यह कविता 'आज' मे छापें। उन दिना ज्ञानमण्डल भाडे के बंगले मे दुर्गाकुण्ड मुहल्ले मे था। शिष्य-वत्सल बेचारे नागरजी पक्के मुहल्ले से पदल प्राय एक कोस चलकर मुझे ज्ञान मण्डल ले गए। वहा पहुचने पर मुझको दरवाजे ही पर रुकने का सकेत कर वह अन्दर गये, जहा उस समय शिव प्रसादजी गुप्त और श्रीप्रकाशजी बठे हुए थे। नागरजी का, उत्तम शिक्षक के नाते, काशी में आदर था। अच्छे अच्छे जानते-मानते थे। ज्ञानमण्डल का श्रेष्ठिवग भी उनका सम्मान करता था। उन्होंने गुप्तजी और श्रीप्रकाशजी को सम्मिलित सबोधित करते हुए कहा एव सौ छ

—श्रीमान जी, मेरा एक शिष्य एक कविता लेकर आया है। सामयिक है। कहिये तो उसे अन्दर बुलाऊँ! और अविलम्ब मैं बाबू शिवप्रसाद गुप्त और बरिस्टर श्रीप्रकाशजी के सामने उपस्थित हुआ। नागरजी ने कहा—"सुनाओ अपनी कविता पढ़कर।" मेरा दिल धड़क रहा था। साहस बटोरकर काशी के उन दिग्गज श्रीमानों को मैंने अपनी कविता सुना ही दी। और रंग जम गया। गुप्तजी भी प्रसन्न हुए, प्रकाशजी भी। गुप्तजी ने मनेजर से पूछा—"क्या सवेरे निकलने वाले 'आज' में इतनी बड़ी कविता के लिए स्थान निकल सकता है? पूछो फोरमन से।" फोरमन ने बतलाया कि सातवें पृष्ठ के अन्तिम कालम में चाहें तो कविता दी जा सकती है। 'आज' में यह मेरी पहली कविता छपी थी। इस वाक़्या के कुछ ही दिना बाद मैंने पहली कहानी लिखी—'गांधी आश्रम'—कि 'आज' ही में छपे। 'आज' में एक सहकारी सम्पादक थे हरिहरनाथ जी बी० ए० थे। बड़े ही सरस चित्त कायस्थ। उन्होंने पढ़ने के बाद वादा किया कि कहानी पेपर में छपाने का उद्योग करेंगे। पूछना था श्रीप्रकाशजी से। मैं बैठा प्रतीक्षा करता रहा। श्री प्रकाशजी आये रात में आठ-साढ़े आठ बजे। उन्हें देखते ही उनके रौब के मारे मैं उनकी कुरसी के ठीक

पढे ही अस्वीकृत कर दी। उनका निर्णय सुन उनके पीठ पीछे मैं सुन्न रह गया। लेकिन जय हो मुंशी हरिहरनाथ की! उन्होने वह कहानी मुझे लौटाई नहीं, बल्कि पण्डित बाबूराव विष्णु पराडकर के सामने उसे रख दिया। पराडकरजी ने रचना पढी, आवश्यक सुधार किये, छपने को दे दी। छपने के बाद मुझे पता चला कि मेरा दिल टूटे नहीं, इसके लिए हरिहरनाथजी ने क्या उपाय किया था। वह कहानी पाडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के नाम से नहीं, मेरे एक अन्य—शशिमोहन शर्मा—नाम से छपी थी। तब तक मैंने 'उग्र' उपनाम नहीं रखा था। 'उग्र' उपनाम तो मैने राष्ट्रीय गान द्वन्द्व में सम्मिलित होने से पूर्व चुना था। आज मुझे अपने लिए उपनाम चुनना हो, तो सम्भव है—बुरा न होने पर भी—'उग्र' मैं न चुनू। लेकिन आज से चालीस वर्ष पूर्व राष्ट्र भक्त लेखक ऐसे कर्कश उपनाम इसलिए चुना करते थे कि बलवान ब्रिटिश साम्राज्य के नृशंस शासक नाम ही से दहल जाएं। शायद शक्तिहीनता छिपाने के लिए लोग प्रचण्ड नामोपनाम चुना करते थे, जैसे—'त्रिशूल', जैसे 'वज्रपाणि', जैसे 'धूमकेतु', जैसे 'भीष्म', 'भीम', 'भयकर', 'प्रलयकर' या अपना ढाई अक्षर का 'उग्र'। क्या हुआ कि पण्डित पराडकरजी मेरी लेखनी की तरफ आकर्षित हुए—मुझे पता नहीं। वह रूखे बोलने वाले महापुरुष थे, प्राय चुप रहने वाले। मेरी लेखनी में अंग्रेजी राज के प्रति घोर घृणा तथा क्रातिकारियो के लिए तरल महामोह जो था—मैं समझता हू—उसी पर वह मुक्त प्राण महाराष्ट्रीय मोहित हुए होंगे। उन्होंने बे-बोले ही मानो मुझे गोद ले लिया। सारे ज्ञानमण्डल की कानाफूसी एक तरफ रख, अपना काम छोड, घटों

तब वह मेरी कहानियों को व्याकरण की पटरी पर लाते, ग़लत-बयानियाँ सुधारते, बदशक्ल शब्द या मुहावरे काट-छाटकर, सुन्दरता सवारकर वह मेरी शूद्र रचनाओं को दिव्य द्विजत्व दिया करते थे। जब वह मेरी कहानी पढते पढते हँसने लगते अथवा सजल हो उठते, तब मुझ में, बिना बोले ही, आत्मविश्वास घट घट उँडेल देते थे। अक्सर मैं घोर राजविद्रोह लिख मारता था, जिसे पढ़ते ही अस्वीकृति से माथा हिलाते वह कहते—"नहीं, नहीं, आपने लिखा सुन्दर है, सच है, पर कानून लोचदार होता है। सस्था श्रीमानों की है। इस तरह आप सबको सकट में डाल देंगे।" फिर पराडकरजी उस रचना रूपी चित्र को सुधारते यों कि चित्र का रूप तो बदल जाता, लेकिन शब्दों के (कामापलाज) माया जाल में मारक डक और विष बना-का-बना ही रहता। अक्सर मेरी रचनाओं की क्रान्तिकारी उग्रता से चमक-कर श्रीमान् लोग सावधान करते पराडकरजी को कि कहीं 'उग्र' की लेखनी सस्था को खड्डे में न खींच ले जाए। फिर भी, पराडकर जी छापते। यह द्वन्द्व तब तक चलता रहा—चार-पाच बरसों तक—जब तक पराडकरजी की कृपा से रचनाकार की हैसियत से मैं अपने परो पर खडा नहीं हो गया। इस अरसे में उत्तर प्रदेश का यह जो भारत प्रसिद्ध दनिक अख़बार 'आज' है, मेरे अभ्यास का पूर्ण साधन बना रहा। इसके प्रमाणों से 'आज' की फाइल-की फाइल भरी हुई हैं। मेरी लिखी पहली समालोचना 'मर्यादा' मासिक में इन्हीं दिनों छपी थी, जिसके सम्पादक थे श्रद्धेय सम्पूर्णानन्दजी। गर्चे सम्पूर्णानन्दजी के ज्ञान विज्ञान चर्चों के चर्मों में भी

 मेरी लेखनी के लिए स्नेह पर्याप्त था। मैं कहानी,

पढ़े ही अस्वीकृत कर दी। उनका निर्णय सुन उनके पीठ पीछे मैं सुन्न रह गया। लेकिन जय हो मुंशी हरि-हरनाथ की! उन्होंने वह कहानी मुझे लौटाई नहीं, बल्कि पण्डित बाबूराव विष्णु पराडकर के सामने उसे रख दिया। पराडकरजी ने रचना पढ़ी, आवश्यक सुधार किये, छपने को दे दी। छपने के बाद मुझे पता चला कि मेरा दिल टूटे नहीं, इसके लिए हरिहरनाथजी ने क्या उपाय किया था। वह कहानी पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के नाम से नहीं, मेरे एक अन्य—शशिमोहन शर्मा—नाम से छपी थी। तब तक मैंने 'उग्र' उपनाम नहीं रखा था। 'उग्र' उपनाम तो मैंने राष्ट्रीय गान द्वन्द्व में सम्मिलित होने से पूर्व चुना था। आज मुझे अपने लिए उपनाम चुनना हो, तो सम्भव है—बुरा न होने पर भी—'उग्र' मैं न चुनूं। लेकिन आज से चालीस वर्ष पूर्व राष्ट्र भक्त लेखक ऐसे कर्कश उपनाम इसलिए चुना करते थे कि बलवान ब्रिटिश साम्राज्य के नृशंस शासक नाम ही से दहल जाएं। शायद शक्तिहीनता छिपाने के लिए लोग प्रचण्ड नामोपनाम चुना करते थे, जैसे—'त्रिशूल', जैसे 'वज्रपाणि', जैसे 'धूमकेतु', जैसे 'भीष्म', 'भीम', 'भयंकर', 'प्रलयंकर' या अपना ढाई अक्षर का 'उग्र'। क्या हुआ कि पण्डित पराडकरजी मेरी लेखनी की तरफ आकर्षित हुए—मुझे पता नहीं। वह रूखे बोलने वाले महापुरुष थे, प्रायः चुप रहने वाले। मेरी लेखनी में अंग्रेजी राज के प्रति घोर घृणा तथा क्रांतिकारियों के लिए तरल महामोह जो था—मैं समझता हूं—उसी पर वह मुक्त प्राण महाराष्ट्रीय मोहित हुए होंगे। उन्होंने बे-बोले ही मानो मुझे गोद ले लिया। सारे ज्ञानमण्डल की कानाफूसी एक तरफ रख अपना काम छोड़, घंटों

तब वह मेरी कहानियों को व्याकरण की पटरी पर लाते, गलत-बयानियां सुधारते, बदशक्ल शब्द या मुहावरे काट छांटकर, सुन्दरता सवारकर वह मेरी क्षुद्र रचनाओं को दिव्य द्विजत्व दिया करते थे। जब वह मेरी कहानी पढ़ते पढ़ते हँसने लगते अथवा सजल हो उठते, तब मुझ में, बिना बोले ही, आत्मविश्वास घट घट उँडेल देते थे। अक्सर मैं घोर राजविद्रोह लिख मारता था, जिसे पढ़ते ही अस्वीकृति से माथा हिलाते वह कहते—"नहीं, नहीं, आपने लिखा सुन्दर है, सच है, पर क़ानून लोचदार होता है। सस्था श्रीमानों की है। इस तरह आप सबको सकट में डाल देंगे।" फिर पराड़करजी उस रचना रूपी बिच्छू को सुधारते यों कि बिच्छू का रूप तो बदल जाता, लेकिन शब्दों के (कामाफ्लाज) माया जाल में मारक डक ओर विष बना-का-बना ही रहता। अक्सर मेरी रचनाओं की क्रांतिकारी उग्रता से चमक कर श्रीमान् लोग सावधान करते पराड़करजी को कि कहीं 'उग्र' की लेखनी सस्था को खड्डे में न खींच ले जाए। फिर भी, पराड़कर जी छापते। यह द्वन्द्व तब तक चलता रहा—चार-पांच बरसों तक—जब तक पराड़करजी की कृपा से रचनाकार की हैसियत से मैं अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो गया। इस अरसे में उत्तर प्रदेश का यह जो भारत प्रसिद्ध दैनिक अखबार 'आज' है, मेरे अभ्यास का पूर्ण साधन बना रहा। इसके दफ्तरों में 'आज' की फाइल-की फाइलें भरी हुई हैं। मेरी लिखी पहली समालोचना 'मर्यादा' मासिक में कहीं निकली छपी थी, जिसके सम्पादक थे श्रद्धेय सम्पूर्णानन्दजी। [illegible] सम्पूर्णानन्दजी के ज्ञान विज्ञान-भरित ग्रन्थों ने [illegible] मेरी लेखनी के लिए स्नेह प्रदान था। [illegible]

कविता, हास्य, आक्रमण, जो भी लिखता था वह पराड करजी के प्रसाद से तुरन्त ही पब्लिक के सामने आ जाता था। 'ऊटपटांग' शीर्षक से बरसों मैंने हास्य-व्यंग के नोटस 'आज' में लिखे हैं—'अष्टावक्र' उपनाम से।

इस लिखने लिखाने की मजदूरी मुझे शुरू शुरू में दस आने कालम के हिसाब से मिलती थी। वह भी इस शर्त के साथ कि तीस रुपये मासिक से अधिक कालम मैं न लिखूं। सौभाग्य का तेवर तो देखिए! बाल अभ्यास के लिए पाँच लाख का प्रतिष्ठित दैनिक पत्र बाबा के माल की तरह अपना, पर जेब खर्च के लिए रुपये तीस मासिक से अधिक की गुंजायश नहीं! लेकिन 'आज' की वजह से मेरी वह प्रचण्ड पब्लिसिटी हुई, नगर में, प्रदेश में, हिन्दी हद तक सारे देश में कि ज्ञानमण्डल के वरदानों को मैं चांदी के बटखरों से क्या तोलूं?

आपने पढ़ लिया कि मैं शिवप्रसादजी गुप्त के 'सेवा उपवन' से भीख के अन्न सिर पर लादकर ले आता था। ज्ञानमण्डल और 'आज' भी उन्हीं देवता-स्वरूप शिवप्रसाद के दिव्य प्रसाद थे। (हैं भी।) लेकिन शिव प्रसादजी मुझे 'आज' में उस ओजसे न लिखने देते जिस तेज की महाराज पराडकर ने सुविधा दे रखी थी। मौलिकता न हो न सही, पाठकों की नीरसता भंग करने के लिए तब के 'आज' में प्रकाशित दो चार कविताएँ महज स्मरण से यहां उपस्थित करता हूं।

परतन्त्र!

प्रभु परतन्त्र हैं हम आज!
दलित हैं पर-पद प्रबल से गलित हैं सब साज। प्रभु०
देश पर, निज वेश पर, सर्वेश पर का राज,

पर-कृपा निर्भर स्व-पूजा, ध्यान और नमाज़ । प्रभु०
पर उदर निज अन्न से भर हम रहें मुहताज
पर कुशल, निज अपकुशलहित देव विविध ख़िराज ।
प्रभु०
अपर पर-वस जग न हम सम दास गन सिर ताज ।
प्रभु०
(सन् १९२०-२१-ई०)

कामना

भयकर ज्वालाएँ
जाग उठें सब ओर आग की हो जाये भरमार !
मधुर रागिनी नहीं चाहते—
और न स्वर सुकुमार !
वज्र-नाद-सा बोल उठे हम सबके उर का तार !
पावस की घनघोर घटाओं-सी
चारा ओर नभ में धुएँ की राशि व्याप उठे,
और उसमे से हमारी दिव्य आशाएँ
चपला-सी चमकें अनन्त चिनगारियाँ !
ऐसे समय
ओ हो हो ! आ हा हा !
उग्र-रूप विश्वामित्र,
दुष्ट-दल-नाशक भृगु,
रावण-दर्प-हारी राम,
कुरु-बल-वन-दावानल, कर्मवीर-कृष्ण ऐसा,
अथवा पिनाकी भूतनाथ श्री कपालभृत
ऐसा वीर भारत हमारा उग्र नाच उठे !
एवमस्तु !

(सन् ई० १९२० २१)

व्यंग

'मिस' माधुरी को मुख 'लोफर' निहारि, हारि,
फीके पड गये मुह नीके-नीके गुल के।
वसन सफेद वाके तन की सफेदी देख
मलिन बना ही रहा—साठ बार धुल के।
चूल्हे पडे, जले, काहू काम के रहे न फिर,
देखि हलकाई वाकी फूले फूले फुलके।
'फाऊं', 'किड', 'बुल' के, हरिन बुलबुल के,
सुजात गडि पायन चरम बुलबुल के!

हास्य

खेत-खेत खाद खाय तपके तमाखू हुआ,
गया परदेस, कहो कैसी बुद्धिमत्ता है?
विकट मेशीन बीच पड उडवाया लत्ता,
बना सिगरेट, फिर लौटा कलकत्ता है!
हाट मे बिकाया, आया हाथ मे उसीके फिर
खाक भी हुआ, तो होठ ही पे! क्या महत्ता है!!
'सत्ता' हुआ 'मिस' पे बेचारा कवि 'लोफर' भी
बोल उठा विश्व यह प्रेम अलबत्ता है!

पूज्य पराडकरजी का बगाल के बडे बडे बमबाज योगी मिजाज क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध था। दिल्ली के दफ्तर मे यह जो साक्षात् शहीद हैं गुप्त मन्मथनाथजी यह भी मेरे क्लास भाई हैं। हिंदू स्कूल के मन्मथनाथजी भी विद्यार्थी थे। प्रचण्ड और दार्शनिक षडयन्त्रकारियों से मेरा सम्पर्क भी कम नहीं था, लेकिन पराडकरजी या मन्मथनाथ के सबब नहीं। मेरी लेखनी से चिनगारियाँ झडते देख दिवगत श्री शचीन्द्रनाथजी सान्याल और फाँसी पा जाने वाले शहीद श्री राजेन्द्र लाहिडी

ने ललककर मेरा सग्रह किया था। शचीन्द्रबाबू ने राजेन्द्र लाहिड़ी को मेरे घर भेजा, मेरी उग्रता की गहराई को जाचने के लिए। मेरे स्वभाव मे उत्सुकता, भावुकता जितनी गम्भीरता, दृढता, उतनी नहीं थी। क़लम से लिखकर 'रिस्क' लेना हो तो (कायर होते हुए भी) शहीदो का पीछा म काले कोसो तक न छोड़ू। क़लम से मारना हो तो सारे विश्व के अनाचारियों को बिना नरक भेजे म न मानू, लेकिन बन्दूक, तलवार से प्राण लेना हो तो वह मेरा शेवा नहीं।

मेरी परिभाषा चाणक्य ने नन्द साम्राज्य का नाश कर दिया लेकिन अपने हाथ से किसी को एक थप्पड़ भी लगाए बग़ैर। और मुझे बुलाया गया। तीन और बगाली जवानों के साथ बनारस से इलाहाबाद सचमुच कोई षड्यन्त्रकारी उपद्रव राजनीतिक डाका डालने के लिए। चला तो गया म बगालियों के साथ बनारस से इलाहाबाद, लेकिन वसे ही जसे काली मन्दिर मे नहलाए जाने के बाद बलि पशु यूप की तरफ जाता है। इलाहाबाद मे चौबीस घण्टे इन्तजार करने पर भी अन्य आदमियों के साथ जब योगेश बाबू नहीं आये तब एक प्रकार से *जान-बची-लाखों-पाये* भाव से हम तीनों छोटी लाइन से पुन बनारस लौटे। लकिन बीच के एक जक्शन पर बनारस से आने वाली गाड़ी म आधा दजन तगड़े वीरों के साथ योगेश बाबू नजर आए। उन्होंने हमे अपने डिब्बे मे बुलाकर इलाहाबाद लौट चलने का जब आदेश दिया तब म देर्शा वेभाम बहाने बनाने लगे कि भाभी से दो ही दिनों मे लौट आने का वचन देकर आया हूं। इस पर बहादुर योगेश एक मौतरह बाबू ने जिस घृणा भरी दृष्टि से मेरी तरफ तरेरकर

ताका था, यह आज भी मुझे भूली नहीं है। दोना बगाली बहादुर इलाहाबाद लौट गए। म बनारस बच आया। फिर भी श्री शची द्रनाथ सान्याल तथा क्रान्तिकारी मण्डल मेरा आदर करता था। शचीन बाबू ने तो अपने सस्मरण मे एकाधिक बार मेरी चर्चा भी की है। वह मेरी लेखनी मे जो आग थी उसीसे परम सन्तुष्ट थे। मुझमे जो नहीं था उसके लिए तिरस्कार सान्याल महाशय के दर्शन मे नहीं था। सान्याल बाबू दु खों के दाह से सुवर्ण की तरह दप-दप दहकते दार्शनिक थे। कसौटी की तरह श्याम। बडी-बडी डोरीली, करुण, आखें!

तो ? तो क्या बाबू शिवप्रसाद गुप्त को भी स्वर्ग के फाटक से नहीं गुजरने दिया गया ? बाइबिल मे लिखा है सुई के सूराख से ऊँट निकल जाए—भले, परन्तु धनवान स्वर्ग के फाटक से त्रिकाल मे भी नहीं गुजर सकता। बाबू शिवप्रसाद गुप्त गैर-मामूली धनवान—कहते हैं करोड़पति—जमींदार-साहूकार के उत्तराधिकारी थे। अगर मुझे मजे मे विदित न होता कि दोष देवताओं मे भी होता है, तो दिवंगत बाबू साहब को मै आदमी न कह देवता ही कहता। लेकिन जहाँ तक मुझे मालूम है देवताओं को दिल नहीं होता और आदमी यदि भरत बन जाए या बुद्ध, ईसा या श्री रामकृष्ण परमहंस या गांधी तो वह सर-से-पाँव तक दिल ही दिल दिव्य दिखलाई देता है। सावन के सघन घन की तरह शिवप्रसादजी सहज स्वभाव से सभी के लिए जीवन-मय-सजल थे। उनके रहते 'सेवा उपवन' एक विशाल अतिथि निवास था। किसी तरह का भी गुणी हो गुप्तजी के मन मे उसके लिए उदार आदर भाव सुरक्षित था। विद्यार्थियों को, विद्यालयों को, समाज सबको को, राष्ट्र-कर्मियों को, नेताओं को मालवीयजी और गांधीजी को बाबू शिवप्रसाद गुप्त मुक्तहस्त दान दिया करते थे, यह भी भावपूर्ण भक्ति से। महामना मालवीयजी पर तो वह लोटपोट-मुग्ध थे, उन्हें पिता एवं गोविन्द अपने दो पुत्र और गोविन्द मालवीय को भाई कहा

करते थे। मालवीयजी भी बाबू शिवप्रसाद गुप्त को इतना मानते थे कि काशी मे उन्हींके यहा रहते, उन्हीं का अन्न पाते थे। ज्ञानमण्डल को ज्ञान-मण्डल बनाने मे शिवप्रसादजी के लक्ष-लक्ष रुपये अलक्ष हो गए। 'आज' को 'आज' बनाने मे। 'भारतमाता का मन्दिर' की भव्य कल्पना को दिव्य आकार देना, काशी विद्यापीठ की बुनियाद डालना दिवगत गुप्तजी ही का प्रसाद है। काशी मे जो भी राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई उसकी प्रेरणा मे गाधीजी के बाद बाबू शिवप्रसाद गुप्त ही का नाम लेना मुझे समुचित लगता है। शिवप्रसादजी के प्रसाद का पुण्य प्रकाश सारे उत्तर प्रदेश मे, खुशबू सारे देश मे थी। शिवप्रसादजी इतने मोटे थे कि लगता था उनका विशाल हृदय बूझकर ही विधाता ने वह बडा घर उन्हें बख्शा था। शिवप्रसादजी का बगला बडा, मोटर बडी, कसे बडे-बडे वायलर घोडो की जोडी थी उनकी, जिसके पीछे वर्दी धारी दो-दो साईस राहगीरों को तेज स्वर से सावधान करते रहते थे। शिवप्रसादजी खाने और खिलाने के भी बडे शौकीन थे। घर की बात अलग, यात्रा मे भी उनके साथ पूरा भण्डारा चला करता था। काशी मे आकर कोई भी बडा आदमी 'सेवा उपवन' ही मे सुविधा, आतिथ्य और सुख पाता था। अक्षरश रईस थे श्रद्धेय शिवप्रसादजी गुप्त। ऐसे जनों को जेल तो कदापि नहीं होना चाहिए थी। लेकिन भला अग्रेज कब छोडने वाला था। उन्हें भी सीखचों मे बन्द किया ही गया। शिवप्रसादजी-जैसे रईस को जेल देना फासी देने के बराबर था। हृदयहीन कानून ने ऐसा समझा ही नहीं। वह जेल ही मे बीमार पड गए। छूटे, तो उन्हें फालिज मार गया। फालिज

मार गया ? शिवप्रसाद गुप्त को ? ऐसे नेक दिल आदमी को जिसकी तुलना देवता से भी करने को मैं तयार नहीं ? तो यह सारे-का सारा उत्तम अभियान, विधिविहित दान, सबकी पूजा, सबका सम्मान, सबके लिए अपार मोहमय प्यार सदाचार नहीं, अपराध था ? क्योंकि शिवप्रसादजी को विकराल, भयानक दण्ड मिला—जिसे छ महीने की फासी कहते हैं। जिस 'सेवा उपवन' मे उन्होंने सारे ससार की सेवा की थी उसीमे बहुत दिनो तक वह पक्षाघात से परम पीडित पहियादार गाडी पर झुंझलाते, खुनसाते घुमाये जाते थे। वह अक्सर बनारसी बोली मे व्यथा विह्वल दोहाइयाँ दिया करते थे—"रमवा, रे रमवा ! कौन गुनहवाँ करली रे रमवाँ !' तो ? तो क्या बाबू शिवप्रसाद गुप्त को भी स्वग के फाटक से नहीं गुजरने दिया गया ? बाइबिल मे लिखा है सुई के सूराख से ऊँट निकल जाए—भले, परन्तु धनवान स्वग के फाटक से त्रिकाल मे भी नहीं गुजर सकता।

बाबू शिवप्रसाद गुप्त के जीवन और मृत्यु से जब मैं बच्चा महराज के जीवन और मरण की तुलना करने चलता हूँ तो मेरी मति हैरान परेशान रह जाती है। यद्यपि मनुष्य की दृष्टि से दोनों मे कोई भी तुलना करना अनुचित-जसा लगता है, लेकिन दैवयोग से मेरे तो दोनों ही गुरुजन थे। बच्चा महराज ने हारकर कभी राम की पुकार नहीं लगाई। असल मे वह अपने प्राइवेट अफेयस मे राम की भी दस्तदाजी नहीं चाहते थे। और जसे राम को भी बच्चा गुरु की यह सवतन्त्र स्यतन्त्रता मोहक मालूम पडती थी। तभी तो आराम भरा जीवन उन्हें वरदान मिला था।

सो, तुम जीते-कमला, और बहुत खूब जीते। अभी गत कल ही की तो बात है। तुम प्रादेशिक साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बने थे (सन् १९४८ ४९)। उन्हीं दिनों लखनऊ मे मैं भी मोहक मिनिस्टर श्री केशवदेव मालवीय का मेहमान था। अत, सहज ही, उस जलसे मे हाजिर था जिसके तुम जनाब सद्र थे। पहले दिन की कारवाई खत्म होने के बाद ही मच से दर्शकों के बीच मे आने पर मुझे पहचान तुमने मेरे कन्धे पर परिचित हाथ रखा था और—परिचित ही अदा मे—मैंने गुजारिश की थी हि० सा० सम्मेलन के अध्यक्ष से कि आगामी कल के जलसे मे मुझे भी चद अल्फाज बोलने की इजाजत दें। लेकिन तुमने तड्न ना कर दिया था "तुम न जाने क्या बोलो—मैं तुम्हें बोलने नहीं दूगा।" तब तुम मिनिस्टर नहीं—महज एम एल ए थे, लेकिन तब भी तपना तुमने प्राय मिनिस्टरी की तरह ही शुरू कर दिया था। मैं रहता था मिर्जापुर तथा 'मतवाला' वाले महादेवप्रसाद सेठ के योग्य पुत्र के करते फिर से प्रकाशित 'मतवाला' का सम्पादक था। दूसरे दिन तुमने सभा मे मुझे बोलने नहीं दिया था। पाचवें दिन अपने पेपर मे मैंने तुम्हारे दम्भ की, भाषण की, हिन्दी साहित्यिक आसन पर से पालिटीशियन मुख्यमन्त्री पन्त के पद पल्लव पकडने के आचरण की भर्त्सना की थी—जरा भी अपनत्व दिखाये बगैर। इसके बाद

मिर्जापुर से बनारस जाने पर, जान-बूझकर, तुम्हारी प्रतिक्रिया ताडने के लिए मैं तुम्हारे घर गया था। दरबार तुम्हारा भरा था, मैंने देखा। मुझे देखते ही चेहरे पर अहंकार तुम्हारा उभरा था। मेरी तरफ से दीठ हटा, पीठ दिखाते तीव्र तिरस्कार मे तुमने कहा था "कोई मुझसे पालिटिक्स मे भिडावे (फिर देखे)।" उस समय मैंने नहीं समझा था कि तुम्हारे इस पालिटिक्स परिज्ञान-अहंकार के पीछे इतना कूट प्रभुत्वपूर्ण 'पावर' था। तुम सिंचाई मन्त्री बन गए जब तब भी मने अहंकार योग्य कोई खुसूसियत तुममे नहीं देखी थी। लेकिन जब काल ने तुम्हारे पक्ष मे 'किक' मार सी० बी० गुप्त को पाताल पठाया और सम्पूर्णानन्द को प्रान्तीय प्रभुत्व के आकाश की तरफ उछाला तब जसे रातारात तुम्हारा साइज यू० पी० के पाताल से (नक्षत्र ग्रह-चन्द्रार्क-मण्डित) आकाश तक विराट हो गया था। तुम्हारा यह विराट रूप मुझे बहुत ही भाया। जीवन मे जीवट से डटने की क्षमता, बल, 'पावर' मुझे बहुत ही सुहाते हैं। मने कहा, 'भाते हैं', 'सुहाते हैं'। 'चुभाते' ये मुझे उतना नहीं। देखो तो, जब से तुम 'पावर' में हो मेरी-तुम्हारी भेंट तक नहीं। लखनऊ तो दूर म बनारस भी नहीं गया, मिर्जापुर नहीं गया। तब से जब से तुम वसे शक्तिशाली बने जिसकी कल्पना तक म न कर पा सका था। वसे ही—ठीक वसे ही क्षमता—जसे अलिफ लला के दीन अलादीन को अपने ही हाथ के चिराग मे प्रचण्ड शक्तिशाली 'जिन' के होने की कल्पना तक नहीं थी। विश्वास रखो, म तुम पर एक अक्षर भी न लिखता—यह सब तो अपना अहंकार प्रकट करने के लिए लिखा है—खासकर प्रान्त

थे उन साहित्यिकों, प्रसम-घाजा, प्राचार्यों, तथाकथित प्रतिभाशालियो पर जो प्राज तुम्हारे प्रसाद से प्रसादी लाल बने हुए हैं। मेरा दावा है प्राज यू० पी० के जो भी तुम्हारे सामने भुककर सम्पूर्णानन्दित हैं वे सभी मेरे सामने भी सरासर भुके हुए हैं। याद तो करो सन् १९२१ ई० की घटना। गाधीजी काशी ग्राये हुए थे और टीचर्स ट्रेनिंग कालेज के दुमंजिले पर हिन्दू विश्वविद्यालय के एक-से एक विवेकी आचार्य को असहयोग का प्रोग्राम सुतर्कित रीति से समझा रहे थे। और तुम थे। और म था। हमने तय किया कि महात्माजी जब गोष्ठी वाले कमरे के बाहर निकलें तब अचानक लपक कर पावन चरण-स्पर्श किया जाए। और हम कर गुजरे लडकपन। बड़े-बड़ो के आगे आगे आते गाधीजी के गतिवान चरण एक ओर से तुमने और एक ओर से मने पकड ही लिए थे। गाधीजी चमककर शान्त रह गए थे। मुझे याद है—मेरे हाथ मे उनका दाहिना चरण आया था और तुम्हारे बाया। युग पुरुष के वाम पद की विभूति अगर वही है जिससे तुम मण्डित हो कमलापति पण्डित! तब महात्मा के दक्षिण पद की विभूति मे क्या होगा उसकी कल्पना की अनुभूति भी सह्य पद प्रसूति मालूम पडती है। महात्मा पद रज-ग्रहण के चन्द ही दिनों बाद इस बात पर मेरी-तुम्हारी शर्त लगी थी पाच-पाच रुपए की कि आगे जेल कौन जाता है। जेल तुम भी गये, लेकिन म तुमसे पहले पहुँचा था। और हम दोनों एक ही भाव मे, एक ही बरक मे, एक ही 'भिरी' मे, एक ही जेल मे सन् उन्नीस सौ बीस और एक मे थे! उसी जेल मे उसी समय कृपलानीजी, सम्पूर्णानन्दजी और सारी यू० पी० के कई सौ पोलि

टिक्ल वन्दी भी थे ! आज यह सब म इसलिए लिखता हू कि तुममे जो श्रेष्ठ है, तेजस्वी ह, उसमे म हू । भले म ही न होऊँ तुम्हारे पूज्यपिता परम पडित थे, तुम्हारे भारत विख्यात नानाजी परम पडित थे । लेकिन जेल तो म ही तुम्ह ले गया, अखबार नवीसी की तरफ तो म ही तुम्हे ले गया । मतलब महज यह कि तुम्हारे शुभ मे मेरा अनुराग आज भी है और अशुभ मे भगवान् न करें किसी का अनुराग हो । हरिश्चन्द्र ने कहा— कोई हमसे सत्य मे भिडाये, रामचन्द्र ने कहा, कोई हमसे मर्यादा मे भिडाये, गौतमबुद्ध ने कहा, कोई मुझसे करुणा मे भिडाये, लेकिन कमलापति पडित ने पलटा लेकर कहा, कोई हमसे पालिटिक्स मे भिडाये ! तो कमला ! इस पालिटिक्स म तुम्हारे सत्य, मर्यादा और करुणा ता होगी ही ? या माडन पालिटिक्स उक्त गुणा से विरहित होता है ? भाई रे, दोहाई है, इतना बडा हो गया चुनार का पँडवा, पर, पूछो तो पालिटिक्स का 'प' भी लिखना मुझे नहीं आता । जब तुम कृषि या सिचाई मन्त्री बने थे, म सयोग से लखनऊ मे था । तुम्हारे यहा गया जो तुम अन्दर थे, बाहर दरबार लगा था । तुम बाहर आये तो स्व० परमहस राघवदास ने तुम्हे सुनाया था कि उग्रजी कह रहे थे कि काम अभी छोटे भाई कर रह हैं बडे भाई का नम्बर बाद मे आयेगा । शायद परमहसजी का कथन तुम्हें सुहाया नहीं था । म दूसरे दिन गया तो तुम तम्बलिये मे सुलभ हुए थे । इसके बाद म उत्तर प्रदेश के बाहर-ही बाहर रहा । अक्सर पत्रों में पढ़ता तुम्हारे बारे म । कमाल मेरे भाई ! तुमने करके दिखा दिया ! लेकिन किसको दिख लाया ? वेतन को ? परिवारियों को ? रिश्तेदारों को ?

एक मो
मर्यादा

नकतर—तक उसे जो आत्म सतोष होता है वही सतोष चुनार से बदमाशी सीखकर आने के बाद बनारस के एक-से एक प्रतिभाशाली, भाग्यशाली, बदमाशो को देखने पर मुझे हुआ। फलत मन से हीनता की भावना धुल-सी गई। लगा, यहाँ यही सही कि करो कुछ, बताओ कुछ। या करो भी—बताओ भी। डरो, क्यो? आलोचक ऊपरी मात्र होते हैं—चलते—नहीं तो यहा दूसरे की खबर लेने जितनी फुरसत है किस भले आदमी को? सामने पडे, झट से राय दी, आगे बढे और भूल गए! सो, छान! छान! किसी रडी भडवे की न मान! काशी की हवा मे ज्ञान इस कदर कि शकराचार्य से वहाँ का चाण्डाल बहस कर बठा था, मडन मिश्र की मजदूरन दो चार सुना गई थी, काशी के तोते तक शकराचार्य से सस्कृत मे टररं-टररं करने की हिमाकत कर सकते थे। जब मैं विद्यार्थी था तब की काशी मे प्रियवदा मजदूर नें थीं, चार्वाक चाण्डाल थे, टररं-टररं तोता रटन्त श्रुति धारी द्विज थे—अलबत्ता नहीं थे तो करुणामय सन्यासी दार्शनिक दिव्य शकराचार्य महाराज। कुछ लोग कमजोर भी होते हैं और कुरूप भी। कमजोरी भी अगर 'कट' वाली हो—अदा वाली—तो कलामयी हो उठती है। मेरे एक परम आदरणीय बन्धु थे। अच्छे पढे लिखे, खासे खाते पीते। कविता का शौक, कसरत का शौक, दिलफेंक यार। जवानी मे एक हाकी खिलाडी नौजवान की सुगठित देह देखी और फिदा हो गए। बरसो उनकी भावुकता उस देही के गिर्द भ्रमराती रही। व्याह और दो-तीन बच्चे तक हो जाने के बाद जनाब की नमकीन निगाहों मे दालमडी की एक तवायफ नाच ही गई। हज रत का रोम रोम गा चला वसन्त बहार—ललकार,

तलबगार ! पत्नी से भी जनाब ने बतला दिया कि उनकी जान की राहत तो फलां जान है। वह मुझसे उम्र मे दूने रहे होंगे—जियादा हो, लेकिन—घंटे घंटे भर वह उस तवायफ के नाक नक्श के फसाने मजनू-मुख बनाए गाते रहते। बात यह थी कि औकात वाले दिखने पर भी वह दिल ही फेंक सकते थे—दिरमोदाम नहीं। और वह थी रंडी। मजनूं को भी खाली हाथ देख झाड़ उठाने वाली और नामालूमखां पर भी टके पाते ही टक-टकी लगाने वाली। सो, मेरे यार का इश्क बेकरार बसन्त बहार के आगे न जा पाता। श्रीमान् माशूक की तरह सज-धजकर दालमंडी जाते !—क्या साज-बाज ! घण्टे भर मे दाढ़ी बनाते, आधे घंटे तक मूछों का 'कट' या बांकपन संवारते, होंठ देखते, नासिका पर सपाटक हाथ फेरते, कपड़ों पर इस्तरी-ब्रश करके भूल जाते—फिर करते। जियादा समय वह पूजा मे लगाते थे या अंग्रेजी बूट पर पालिश करने मे, कहना कठिन है। इसके बाद महफिल मे जिस आहिस्तगी से उन दिनों तवायफें सजा करती थीं उसी आराम से लस होकर, हाथ मे छड़ी, सर पर कश्तीनुमा टोपी ओढ़े महाशयजी दालमंडी की उस तवायफ के दीवारों को चलते, जेब मे हद-से हद रुपया आठ आने की रेजगी लिए। उस वेश्या के ठीक सामने वाली पानों की दूकान पर दो पैसों की गिलौरियां खाने के बाद वह मेरा बौरा यार नौ बजे से बारह बजे रात तक उस मस्तामुखी की तरफ देखता ही ! जैसे सूरजमुखी देखे सूरज की तरफ, अनवरत, एक पांव पर पुलकित गात, पात-पात। कहते तो नहीं थे, पर सोचते यह मन मे यही थे कि पैसे नहीं हैं जेब मे तो क्या —बड़ी काया तो है, बड़ी आंखें, खड़ी-खड़ी मूछें तो हैं।

फिर विश्वनाथ अन्नपूर्णा दर्शन के पुण्य, पूजा-पाठ का प्रभाव। वह सोचते कि आखा ही से उस बार वनिता को अर्श से फर्श पर खींच लायेंगे! लेकिन पसे से खिचने वाली ऐसे-वसे जसे-तसे से क्से खिचती? मेरे मित्र के इस फोकट इश्क पर उनका भानजा खूब ही हँसता। वह भी जवान, तगडा बनारसी था। उसने मामाजी के प्रेम को नामर्दों का प्रेम बतलाया। वह किसी दिन जब मामाजी पान की दूकान पर खडे वेश्या को घूर रहे थे तब, दस-बीस रुपये लेकर, उसी रूपा के कोठे पर चढ गया। इसके जरा ही बाद फर्श से मामाजी ने देखा कि उनका योग्य भानजा उनके सपनो की रानी के गाल से गाल सटाये खुशहाल निहाल अर्श पर था। इस पर महाशय का दिल कुछ ऐसा चकनाचूर हुआ कि तबीयत हरी रखने के लिए हजरत ससुराल चले गए। आठ बरस से नहीं गये थे जहाँ। वहा जाकर क्या देखते हैं आठ साल पहले उनकी जो साली दस साल की थी वह अब अट्ठारह की हो गई थी। ब्याह उसका कई वर्ष पूर्व ही चुका था लेकिन आराम से उस पर निगाह बनारसी रसज्ञ की अब पडी थी। ओ हो! इसका नक्शा वही है जो उस वेश्या का! दोनों ही जसे गुलाब के फूल, इस फर्क के साथ कि वेश्या का रस सूख रहा था और साली सरासर रसाली थी। मेरे मित्र बाता के सौदागर होने के सबब प्रभाव सामने वाले पर गुरुआई भरा फौरन डाल देते थे। उनका साला चेले की तरह उनके प्रभाव मे था! सो, उन्होने साले से कहा—साफ शब्दों मे—कि उन्हें उसकी छोटी बहन जँच गयी है, सो उसे उनके कमरे मे वह किसी बहाने भेजे। और समझदार पढे लिखे साले ने—आचरण पर सदेह किये बगर—छोटी बहन को

बड़े बहनोई के कमरे मे भेज दिया। और हिमाक़त यह कि ससुराल से लौटकर उन्होंने अपनी पत्नी को भी बतला दिया। छोटी-बहन विजय की वार्ता। फलत इसके तीसरे ही दिन जेठ की दुपहरी मे दुछत्ती के कमरे मे झाकने पर बनारसी रसनजी ने देखा ! क्या देखा ? देखा उनकी पत्नी उन्हीं के तगडे, सुदर्शन, कुँवारे छोटे भाई का अधरपान कर रही है—पिपासाकुल ! मुझे कहना चाहिए कि वह 'स्पोर्ट' थे। चुपचाप, दबे पाव, छत से बठक मे आ रहे। मुझे कहना चाहिए कि वह साधु थे। सारे का-सारा यह क़िस्सा उन्होंने 'सरल सुभाव छुआ छल नहीं' मुझे सुना दिया था। मुझे कहना चाहिए, ऐसे अल्हड बिल्ह्ड आदमी ऐबो के बावजूद मुझे बहुत ही पसन्द आते हैं। कौन है वे ऐब ? बे-ऐब—बस एक ख़ुदा की जात है। ख़ुदा ? जात ? बाभन के हाथ की लेखनी भूल ही जाती है कि यह एटम युग है और राकेटो मे कुत्ते और बन्दर अन्तरिक्ष की तरफ उडाये जा रहे हैं—अल्लाह के आसन की तरफ—भूकने, बन्दर घुडकियाँ दिखलाने के लिए।

बनारस देखने के बाद चुनार वाली इनफीरिआरिटी काम्प्लेक्स मेरे मन से जाती रही—इस चर्चा मे यह वर्णन हुआ है। चुनार मे, फिर भी, सुबे छिपे जुआ होता, लेकिन बनारस मे तो बागों मे, बँगलों मे, बजडों पर एक तरह खुले आम जुआ होता, शराबें होतीं, सुन्दरियाँ होतीं, यार-नारी, जार नारी। चुनार मे तब दो ही चार वेश्याएँ घोडचडी रही होंगी। सो भी शहर से दूर, सराय के नजदीक। बनारस मे पब्लिक-परियाँ बीच शहर म शत-

दात की सख्या मे प्रकट वेश्यालयों मे थीं और शत हो

शत सख्या म अप्रकट वेश्यालयों मे। ऐसी रसीलियो

की कमाई चुनार मे सम्भ्रातो की नहीं बदमाशों और ब्रिटिश टामिया की थी जो इन्हे 'लाल बीबी' कहा करते थे, लेकिन बनारस की बिगडी औरतो की गहरी, सही कमाई वहा के छिपे प्रकट रुस्तम मनचले बुद्धि और धनपतियों की थी।

कलकत्ता

"यद्यपि विश्वनाथजी त्रिपाठी चुनार चले गए हैं फिर भी चुनार ही के एक मुशीजी उन्हींके साथ रहते हैं, वह होंगे, मैं आपको अपने आदमी के साथ त्रिपाठी जी के स्थान पर सिंघोयागान मे पहुचवा देता हूं।" मुझे निराश हताश देख, सभवत मेरी दिक्कत समझकर सहृदय मूलचदजी अग्रवाल ने कहा था। विश्वनाथ भाई के साथ चुनार के जो मुशीजी रहा करते थे वह मेरे परिचित ही नहीं यजमान भी थे। उसी दिन उन्होंने चुनार सूचना भेज दी कि बेचन भाग आये हैं। एक ही हफ्ते बाद विश्वनाथ भाई भी चुनार से आ गए थे। उन्हें मेरा वहां आना और रहना, उनकी सुविधाओं मे खलल डालना, सुहाया नहीं था। फिर भी, तिरस्कार उन्होंने नहीं किया। एक 'बासे' वाले को कहकर मेरे खाने की व्यवस्था करा दी। जल्द ही उन्होने मेरे लिए एक नौकरी भी तलाश की—आर० एल० बमन कम्पनी मे। एक रुपया रोज पर मैं उस कम्पनी के दफ्तर के बाहर की तरफ तख्त पर बठकर ग्राहकों के पते छपे फार्मों पर लिखा करता। विश्वनाथ त्रिपाठी जब 'विश्वमित्र' के लिए विज्ञापन ढूढने निकलते तब अक्सर मुझे भी साथ ले लेते ताकि वह धन्धा भी मैं समझ की खोपडी में ठूस लू। उन्हीं दिनों सन् १९२० वाली

मशहूर महा कांग्रेस हुई थी जिसके अध्यक्ष थे लाला लाजपतरायजी ! उसी कांग्रेस सेशन में असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ था। प्रस्ताव के विपक्ष में बोले थे मालवीयजी, मोतीलाल नेहरूजी, विपिन चन्द्रपालजी। कैसा जोश, कैसा खरोश, कैसे कैसे हृदयस्पर्शी भाषण हुए थे ! कितनी इज्जत थी गांधीजी की ! प्रेसिडेन्ट होने के बावजूद लालाजी महात्माजी को पंखा झल रहे थे। राष्ट्रीय महासभा के उस क्रांतिकारी अधिवेशन के दर्शनों ने मेरे मन में जैसे राष्ट्रीय नशा भर दिया था, प्राणों में एक सपना—गौरव ! मुझे लगा बनारस छोड़ राष्ट्रीय रण के इस मौके पर कलकत्ता मैं अकारण ही आया ! मुझे पुनः बनारस ही लौट जाना चाहिए। बनारस में फिर भी मेरा व्यक्तित्व विकस रहा था। लेकिन अपार कलकत्ता में तो मैं कुलीगीरी करने काबिल भी कायाधारी नहीं था। कलकत्ता जाने पर, नौकरी तलाशने पर मुझे पता चला कि मैं किसी भी काम काबिल नहीं था। राष्ट्रीय भावना के साथ इस नाकाबलियत ने भी कलकत्ता छोड़ने को मुझे कम उत्साहित नहीं किया। तब तक चुनार से बड़े भाई का पत्र विश्वनाथ भाई पर आया कि वह मुझे बनारस भेज दें—टिकट के रुपए समय पर मिलने वाला उधार। तब तक मैं एक मास के करीब आर० एल० बमन क० में एड्रेस लिखने की नौकरी कर चुका था। लेकिन बिना नोटिस जो मैं छोड़ चलने पर आमादा हुआ तो कम्पनी वालों ने भी तनख्वाह के नाम अँगूठा दिखा दिया। विश्वास करें—जिन्दगी में यही मेरी एकमात्र नौकरी थी जिसका वेतन आज तक मुझे नहीं मिला है। फिर मेरे पिता की सुगति विचारिए जो सारी जिन्दगी पुजारी की नौकरी करते

रहे, लेकिन तनख्वाह के रुपए मन्दिर-मालिक सेठ ही के यहा समय पर लेने को छोड देते थे। लेकिन जब समय आया, वह बीमार पडे, तब साहूकार ने रुपए न दिये। न दिये मेरी भगिनी की शादी मे—पिता दिवगत हो गए। रुपए मिलते ही रहे।

सन् १६२१ ई० म जेल से आने के बाद नितान्त गरीबी मे, गरीब रेट पर, 'आज' मे मैं सन् १६२४ के मध्य तक राष्ट्रीय आन्दोलन के पक्ष मे प्रचारात्मक कहा निया, कविताएँ, गद्य काव्य, एकाकी, व्यग और विनोद बराबर लिखता रहा । सन् २३ मे 'महात्मा ईसा' नाटक लिखा, 'भूत' नामक हास्य-पत्र मेरे सम्पादन मे चालू हुआ । मेरी समाज सुधारक कहानियों पर काशी के कुछ गुण्डानुमा पडे सख्त नाराज हुए, हाथ पाव तोड देने की धमकियाँ मिलने लगीं । बीच बचाव कर रक्षा की श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' के पिता श्री महावीरप्रसाद मिश्र ने जो काशी के विख्यात डण्डेबाज दलपति तो थे ही, साथ ही, उत्तम साहित्यिक रुचि के पुरुष भी थे । 'रुद्र'जी क पिताश्री मेरा बहुत ही आदर करत थ और जब-जब म उनके यहा जाता और अक्सर जाता तब-तब चकाचक जलपान वह कराते, साथ ही, चलते समय रुपया-दो रुपया पान खाने को भी देते थे । शिवप्रसाद का यह 'रुद्र' नाम मेरे ही सकेत का परिणाम है । सन् '२४ के मध्य तक मैं हिन्दी मे काफी चमकीला बन चुका था, लेकिन जीवन यापन भर रुपये काशी मे कमाना असभव था । इस सन् मे मैं काकनाडा कांग्रेस मे भी शामिल हुआ था । वहाँ से कलकत्ता लौटने पर एक मित्र के साथ 'मतवाला-मण्डल' देखने गया । 'मतवाला' मे मेरी भी कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी

एक सौ
इक्तीस

थीं। सन् '२४ ही मे 'मतवाला'-मण्डल मे ही पहले पहल (आचार्य) शिवपूजन (सहाय) और 'निराला'जी से मेरा आकर्षक परिचय हुआ था। सन् '२४ के आरम्भ मे गोरखपुर के विख्यात साप्ताहिक 'स्वदेश' के दशहरा अक का सम्पादन भी मने किया था, परम भयानक। पत्र छपा था प्रेमचन्दजी के सरस्वती प्रेस मे। सारा अक विस्फोटक आग्नेय मन्त्रो से भरा था। जसे अनूप शर्मा की यह घनाक्षरी—

क्रान्ति की उषा से होगा रक्त भारतीय-व्योम
ताप भरा तेह का तरणि तमकेहोगा।
भारी राजनीति के उदधि के उभारिवेको
चारु कालचक्र चन्द्रमा सा चमकेहोगा।
वरियो का दमन शमन होगा शक्ति ही से
युद्ध घोषणा को कोई धर धमकेहोगा।
कायरो ! क्यों लेते हो कलक को अकारथ ही
भारत के भाग्य का सितारा चमकेहोगा।

उतावले 'उग्र' द्वारा सपादित 'स्वदेश' मे सन् '२४ मे प्रचण्ड ब्रिटेन के विरुद्ध कहा गया कि 'युद्ध घोषणा कोई कर धमकेहोगा।' राष्ट्रीय काग्रस ने इसके दो वष बाद सन १९२९ ई० ही मे लाहौर मे, पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास किया था। स्वदेश' के उस अक को लेकर गोरी गवनमेट मे तहलका मचा, गवनर इन कौंसिल ने केस चलाने का निश्चय किया। प्रेमचन्द के भाई महताराय पकडे गए सरस्वती प्रेस के प्रिण्टर। दशरथप्रसाद द्विवेदी गिरफ्तार हुए 'स्वदेश' के सचालक, स्वदेश प्रेस रौंद डाला गया। लेकिन वदेसा तब तक मतवाला-मण्डल मे कलकत्ता थे। गोरखपुर का वारण्ट जब कलकत्ता आया, म बबई भाग गया। कलकत्ता पहली

बार म घर से भागकर आया था । बबई पहली बार कलकत्ता से भागकर पहुँचा । और एक सगी के सग साइलेन्ट फिल्म कपनी मे काम करने लगा। पीछे वारण्ट था दफा १२४ ए बादशाह के विरुद्ध राजद्रोह (डिसअफेक्शन) फलाने के जुर्म का, लेकिन सामने थी बबई, फिल्म-कपनी, शराब, कबाब और जनाब क्या बतलाऊँ। म भूल ही गया जवानी के जोश मे कि प्राणों के पीछे वारण्ट था जिसमे फँसने पर बडी-से बडी सजा भी सहज ही मिल सकती थी । पाचवें महीने पुलीस सी आई डी ने मालाबार हिल पर मुझे गिरफ्तार किया । तब गृहस्थ बनी हुई एक वेश्या मुझ पर आसक्त थी और एक अर्धवेश्या पारसीक परम सुदरी पर म स्वय बुरी तरह मोहित था । पाँव मे बेडी, हाथ मे हथकडी, भुजा पर सूती रस्सा बँधवाए तीन-तीन सशस्त्र पुलिस वालो के साथ मैं बबई से गोरखपुर भेजा गया । तीन महीने तक केस चलने के बाद मुझे नौ महीने की सख्त सजा मिली । 'स्वदेश' सचालक को उसी केस मे २७ महीने की सख्त सजा मिली थी । सारी गलती मेरी थी, पर चूंकि म नाटा—नन्हा-सा दाढ़ी-न-मुछ था और दशरथ प्रसाद द्विवेदी उम्र रसीदा दाढी वाले सज्जन थे, अत लोअर कोर्ट से हाईकोर्ट तक ने असल अपराधी बेचारे दशरथप्रसाद द्विवेदी को माना ! तब अदालत ने मेरे बारे मे घोषित किया था कि "यह तो इक्कीस साल का लल्ला है" (He is a lad of twenty one years) सन् '२७ मे जेल से आने के बाद मने 'आग मे 'बुढ़ापा' लिखा था और 'रुपया' । सन् २६-२७ की जेलों मे होने पर भी प्राण मेरे अप्रसन्न नहीं थे । देखिए, जेल मे क्या-क्या है—

थीं। सन् '२४ ही मे 'मतवाला'-मण्डल मे ही पहले पहल (आचाय) शिवपूजन (सहाय) और 'निराला'जी से मेरा आकषक परिचय हुआ था। सन् २४ के आरम्भ मे गोरखपुर के विख्यात साप्ताहिक 'स्वदेश' के दशहरा अक का सम्पादन भी मने किया था, परम भयानक। पत्र छपा था प्रेमचन्दजी के सरस्वती प्रेस मे। सारा अक विस्फोटक आग्नेय मन्त्रो से भरा था। जसे अनूप शर्मा की यह घनाक्षरी—

क्रान्ति की उषा से होगा रक्त भारतीय-व्योम
ताप भरा तेह का तरणि तमकेहीगा।
भारी राजनीति के उदधि के उभारिवेंको
चारु कालचक्र चन्द्रमा-सा चमकेहीगा।
वरियो का दमन शमन होगा शक्ति ही से
युद्ध घोषणा को कोई धर धमकेहीगा।
कायरो ! क्यो लेते हो कलक को अकारथ ही
भारत के भाग्य का सितारा चमकेहीगा।

उतावले 'उग्र' द्वारा सपादित 'स्वदेश' मे सन् '२४ मे प्रचण्ड ब्रिटेन के विरुद्ध कहा गया कि 'युद्ध घोषणा कोई धर धमकेहीगा।' राष्ट्रीय काग्रस ने इसके दो वर्ष बाद सन १९२६ ई० ही मे लाहौर मे, पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास किया था। स्वदेश' के उस अक को लेकर गोरी गवनमेंट मे तहलका मचा, गवनर इन कौंसिल ने केस चलाने का निश्चय किया। प्रेमचन्द के भाई महताराय पकडे गए सरस्वती प्रेस के प्रिण्टर। दशरथप्रसाद द्विवेदी गिरफ्तार हुए 'स्वदेश' के सचालक, स्वदेश प्रस रौंद डाला गया। लेकिन वदेवो तब तक 'मतवाला-मण्डल मे कलकत्ता थे। गोरखपुर का वारण्ट जब कलकत्ता आया, म बबई भाग गया। कलकत्ता पहली